समाधान

❖ पत्र आलेखक ❖

श्री प्रियदर्शन

(पूज्य आचार्यभगवंत श्री विजय भद्रगुप्तसूरीश्वरजी)

❖ संकलन / संपादन ❖

भद्रबाहु विजय

आचार्य श्री कैलाससागरसूरि ज्ञानमंदिर
श्री महावीर जैन आराधना केन्द्र, कोबा तीर्थ
२००४

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, महेसाणा द्वारा पूर्व प्रकाशित

अनुक्रमणिका

पत्र नं.	विषय	पृष्ठ
१.	प्रस्तावना	
२.	आत्मा ओर कर्म	
३.	कर्म क्या है?	
4.	कर्म क्या है?	
5.	कर्मबंध के प्रकार	
6.	कर्मबंध के प्रकार	
7.	कर्म की व्याख्याएं	
8.	अंतरायकर्म	
9.	लाभांतराय कर्म	
10.	दानांतराय कर्म	
11.	भोग उपभोग कर्म	
12.	भोग उपभोग कर्म	
13.	वीर्यान्तराय कर्म	
14.	वेदनीय कर्म	
15.	शाता वेदनीय कर्म	
16.	मोहनीय कर्म	
17	मिथ्या मोह के कारण	
18.	चारित्र मोह के कारण	
19.	कषायों के बारे में	
20.	नो-कषाय	
21	चारित्र मोह के कारण	
22.	ज्ञानावरण कर्म	
23.	श्रुत ज्ञानावरण कर्म	
24.	ज्ञानावरण के कारण	
25.	अवधि ज्ञानावरण कर्म	
26.	मनःपर्यव ज्ञानावरण कर्म	
27.	केवलज्ञान	
28.	चक्षु अचक्षु दर्शनावरण	
29.	अवधि केवल दर्शनावरण	
30.	दर्शनावरण कर्म (निंद्रा के प्रकार)	
31.	उच्च-नीच गोत्रकर्म	
32.	आयुष्य कर्म	
33.	चार गति के कारण	
34.	गति नाम कर्म (देवगति)	
35.	जाति नाम कर्म	
36.	शरीर नाम कर्म	
37.	वर्ण-गंध-रस स्पर्श नाम कर्म	
38.	संहनन एवं पर्याप्ति	
39.	बंधन नामकर्म	
40.	वर्गणाएं	
41.	आनुपूर्वी	
42.	थिणद्धि निद्रा के बारे में	

43. नामकर्म
44. ज्योतिष चक्र (आतप नामकर्म)
45. पराघात नामकर्म
46. तीर्थंकर नामकर्म
47. काल एवं करण
48. कर्म सिद्धान्त की सर्वोपरिता
49. त्रस एवं स्थावर नामकर्म
50. सूक्ष्म-बादर-पर्याप्ति नामकर्म
51. प्रत्येक-साधारण नामकर्म
52. स्थिर-अस्थिर नामकर्म
53. शुभ-अशुभ-सुस्वर-दुःस्वर (नामकर्म)
54. सुभग-दुर्भग नामकर्म
55. आदेय अनादेय नामकर्म
56. यशकीर्ति, अयशकीर्ति नामकर्म
57. ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मबंध
58. शाता-अशाता कर्मबंध
59. मोहनीय कर्मबंध
60. आयुष्य कर्मबंध
61. गोत्र कर्मबंध
62. अंतराय कर्मबंध
63. उपसंहार

पत्र : १

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला, बहुत महीनों के बाद। वैसे तो अभी इन दिनों में मैं ज्यादा व्यस्त हूँ। प्रत्युत्तर विलंब से लिखता, परंतु तेरे प्रश्न ने ही तूर्त प्रत्युत्तर लिखने के लिए प्रेरित किया।

यह है तेरा प्रश्नः 'मैं हमेशा अशांत रहता हूँ। हृदय में असह्य वेदना है। कभी-कभी चंचलचित्त हो, आत्महत्या करने की बात गंभीरता से सोचने लगता हूँ। गुरुदेव, मैं नहीं जानता, क्यों होता है यह सब?'

चेतन, यह प्रश्न तेरे मन का है और मन का समाधान होना ही चाहिए। मन का समाधान करना अनिवार्य होता है। तू स्वयं तेरे मन का समाधान नहीं कर पाता है। और इसी वजह से ही तूने यह पत्र लिखा है।

जो प्रश्न पूछा है तूने, यह प्रश्न तेरे अकेले का नहीं है, यह प्रश्न हज़ारों-लाखों मनुष्यों का है। जो मनुष्य अपने मन का समाधान नहीं कर पाते हैं वे सभी मनुष्य अशांत होते हैं। उनके मन की समस्याएँ बनी रहती हैं, समस्या से अशांति पैदा होती है। समाधान से शांति प्राप्त होती है।

समाधान वास्तविक होना चाहिए। असत् कल्पना से किया हुआ समाधान, नई समस्या को जन्म देता है।

एक महिला का पति श्रमण-अणगार बन गया और गाँव छोड़ कर चला गया। महिला गर्भवती थी। नौ महीने पूर्ण होने पर उसने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जब चार-पाँच वर्ष का हुआ, उसने अपनी माँ से पूछाः 'मेरे पिताजी कहाँ गए हैं?' माँ ने जवाब दियाः 'बेटा, तेरे पिताजी परदेश गए हैं। जब वे आएँगे बहुत रुपयें लेकर आएँगे.. तेरे लिए बहुत सारे खिलौने लेकर आएँगे।'

बच्चे के मन का समाधान हो गया। परंतु यह समाधान असत् था, काल्पनिक था। बहुत समय यह समाधान नहीं टिका। बच्चे को एक दिन माँ की बात में संदेह पैदा हुआ। आख़िर माँ को सही बात कहनी पड़ी... बच्चे के मन का समाधान हुआ... और वह अपने साधु-पिता के पास जा कर साधु बन गया।

चेतन, दूसरों के प्रश्नों का समाधान कभी असत् कल्पना से भी किया जा सकता है, परंतु स्वयं के मन का समाधान तो वास्तविक बात से ही किया जा सकता है। असत् कल्पना से अपने मन को समझाया नहीं जा सकता है। कभी कोई अज्ञानी मनुष्य समझाता भी है, वह समाधान क्षणिक सिद्ध होता है।

समाधान क्षणिक नहीं होना चाहिए। समाधान शाश्वत होना चाहिए। शाश्वत समाधान करने के लिए मनुष्य के पास कुछ ज्ञान होना चाहिए। विश्व के शाश्वत नियमों का ज्ञान होना चाहिए।

शाश्वत सिद्धांतों से जब समाधान होता है मन का, तब मन को अशांत अस्वस्थ करने वाले क्रोध, शंका, तृष्णा, अपेक्षा वगैरह दोष दूर हो जाते है। मन शांत और स्वस्थ बन जाता है।

चेतन, ऐसा मत समझना कि संसार के रागी-द्वेषी मनुष्य ही अशांत-अस्वस्थ बनते हैं, कभी-कभी संसारविरक्त, वैरागी और ज्ञानी-पुरुष भी अशांत बन जाते हैं। श्रमण भगवान महावीरस्वामी के अपने तपस्वी और महाध्यानी शिष्य की एक घटना लिखता हूँ।

श्रमण भगवान महावीर श्रावस्ती नगरी में पधारे थे। वहाँ गोशालक भी आता है। गोशालक ने सर्वप्रथम भगवान का ही शिष्यत्व स्वीकारा था, बाद में वह अष्टांग निमित्त का ज्ञान और तेजोलेश्या का ज्ञान पा कर, भगवान से अलग विचरता था और स्वयं को 'जिन' कहलाता था।

उस गोशालक ने भगवान के प्रति तीव्र रोष धारण कर, भगवान के ऊपर 'तेजोलेश्या' छोड़ दी। हालाँकि भगवान को तीन प्रदक्षिणा देकर तेजोलेश्या गोशालक के ही शरीर में प्रविष्ट हो गई... परंतु तेजोलेश्या की तीव्र गर्मी से

भगवान के शरीर की कांति म्लान हो गई और भगवान को खून की दस्तें लगी।

उस समय भगवान के शिष्य सिंह अणगार, जो कि सरल प्रकृति के थे और अत्यंत विनीत थे, वे मालुयाकच्छ के पास निरंतर घोर तपश्चर्या करते हुए ध्यान में निमग्न थे। ध्यान करते-करते उनको ऐसा प्रतिभास हुआ कि 'मेरे भगवान के शरीर में भयानक रोग उत्पन्न हुआ है।' वे बेचैन हो गए। वे आतापनाभूमि से चलकर मालुयाकच्छ में आए और रुदन करने लगे। सिंह जैसे सिंह अणगार के मन में अशांति पैदा हो गई! प्रश्न पैदा हो गयाः 'तीर्थंकर के शरीर में रोग? क्या होगा मेरे भगवंत को?' समाधान की आवश्यकता पैदा हो गई।

समाधान करनेवाले थे स्वयं भगवान महावीर! भगवान ने श्रमणनिर्ग्रंथों को बुलाकर कहाः 'सिंह अणगार मालुयाकच्छ में रुदन कर रहा है, उसको तुम बुला लाओ।'

सिंह अणगार भगवान के पास आए। भगवान को आँसूपूर्ण आँखों से देखते खड़े रहे। भगवान ने कहाः

'वत्स सिंह! मेरे भावी अनिष्ट की कल्पना से तू रो पड़ा!'

'हाँ प्रभु!'

'वत्स, यह बात पूर्ण सत्य है कि गोशालक के तपःतेज के पराभव से ६ महीनों में मेरा कालधर्म नहीं होगा। मैं गंधहस्ति के समान जिनरूप में अभी १६ वर्ष, विचरता रहूँगा। सिंह, तुम मेंढियग्राम में रेवती श्राविका के वहाँ जाओ और उसने अपने लिए जो बिज़ौरे का पाक तैयार किया है वह ले आओ। उससे मेरे रोग का शमन होगा।'

सिंह अणगार बिज़ौरे का पाक ले आते हैं और उसके प्रयोग से भगवंत रोग मुक्त हो जाते हैं। सिंह अणगार प्रसन्नचित्त हो जाते हैं। सभी श्रमण-श्रमणी को, देव और मनुष्यों को... सारे विश्व को संतोष होता है। चूँकि सब के मन का समाधान हो गया!

चेतन, इसलिए कहता हूँ कि तू अपने मन का समाधान करना सीख ले।

समाधान से ही शांति प्राप्त होगी। समाधान करने के उपाय मैं तुझे लिखता रहूँगा। वे सारे उपाय लिखूँगा 'कर्मसिद्धांत' के माध्यम से।

'कर्मसिद्धांत' ऐसा परिपूर्ण सिद्धांत है कि जिसके माध्यम से मनुष्य अपनी सभी समस्याओं का समाधान पा सकता है। 'कर्मसिद्धांत' इस दृष्टि से पढ़ना आवश्यक है। जिन विद्वानों में यह दृष्टि नहीं होती है, वे विद्वान, कर्मसिद्धांत के अनेक ग्रंथ पढ़ने पर भी, न स्वयं मनःशांति पाते हैं, न दूसरों को मनःशांति प्रदान करते हैं। मात्र अभिमान करते हैंः 'मैं कर्मसिद्धांत का पारगामी विद्वान हूँ।'

कर्मसिद्धांत से वास्तविक समाधान प्राप्त होता है। शाश्वत समाधान प्राप्त होता है। मन समाधान का स्वीकार करता है। उसे शांति प्राप्त होती है।

चेतन, समाधान पाने के बाद मन समताभाव से कष्टों को सहता है, दुःखों को सहन करता है और अनंत कर्मों की 'निर्ज़रा' करता है। जीवन में शांति, समता और समाधि सहजता से प्राप्त करने का एक उदाहरण देकर आज यह पत्र पूर्ण करूँगा।

एक सुशीला सन्नारी है।

वह पतिव्रता है। फिर भी उसकी सास ने उस पर कलंक मढ़ दिया - 'यह स्त्री व्यभिचारिणी है।' वह सुशीला स्त्री इस आरोप से अशांत और संतप्त हो जाती है। क्या करे वह स्त्री? 'मैंने कोई भी परपुरुष का संग नहीं किया है, मैं सदाचारिणी हूँ...' ऐसा वह कहती है, परंतु सास उसकी बात नहीं मानती है, पति भी माँ का पक्ष लेता है।

वह स्त्री सोचती हैः 'मैं सदाचारिणी हूँ, अकलंक हूँ, फिर भी मेरे पर कलंक क्यों आया? मेरी सास ने मेरे पर कलंक क्यों मढ़ दिया? कारण तो होना ही चाहिए। कारण के बिना कार्य नहीं होता है। सास अच्छी नहीं है, इसलिए उसने ऐसा काम किया? नहीं, सास ख़राब होती तो मेरी जेठानी पर भी आरोप मढ़ देती! उस पर आरोप नहीं मढ़ा, मेरे पर मढ़ा है।

घोष का प्रतिघोष होता है।

क्रिया की प्रतिक्रिया आती है।

इस जीवन में मैंने किसी पवित्र व्यक्ति पर ऐसा गंदा आरोप नहीं लगाया है, जहाँ तक मुझे याद है। तो फिर पूर्वजन्म में मैंने किसी निर्दोष व्यक्ति पर ऐसा आरोप लगाया होगा? उसका चरित्रहनन किया होगा?

मैंने ही पूर्वजन्मों में किसी निर्दोष पर कलंक लगाया होगा, उसको बदनाम किया होगा। उस पापक्रिया से मैंने 'अपयश' नाम का कर्म बाँधा होगा। आत्मा के साथ बँधा हुआ वह कर्म इस जन्म में अपना प्रभाव बताता है! 'अपयश' कर्म से मैं कलंकित हुई हूँ। बदनाम हुई हूँ। मेरी सास तो निमित्त मात्र है। मुख्य कारण मेरा 'अपयश' नाम कर्म ही है। जितना समय उस कर्म को भोगने का निश्चित होगा, मुझे भोगना ही होगा। समय पूर्ण होने पर मेरा कलंक दूर होगा और 'अपयश' कर्म नष्ट हो जाएगा। 'यशकीर्ति' नाम का कर्म उदय में आएगा!'

हो गया समाधान उस सन्नारी के मन का! अब वह सास को दोष नहीं देती है! इसलिए सास पर द्वेष नहीं होता है! वह स्वस्थ रहती है! उसकी निंदा करनेवालों के प्रति भी वह आक्रोश नहीं करती है।

वह सोचती हैः 'इस जीवन में मुझे सावधान रहना होगा। कभी किसी व्यक्ति का मैं चरित्रहनन नहीं करूँगी। किसी भी व्यक्ति पर व्यभिचार वगैरह के आरोप नहीं लगाऊँगी। अब मुझे अपयश कर्म बाँधना नहीं है।'

यह हुआ समाधान।

समाधान से पैदा हुई शांति और समता!

समाधान से पैदा हुई दुःख सहन करने की शक्ति।

चेतन, यह तो एक उदाहरण दिया है, 'कर्मसिद्धांत' के माध्यम से समाधान पाने का। आगे जो पत्र लिखूँगा उसमें 'आत्मा' और 'कर्म' के विषय में कुछ बातें लिखूँगा... और यदि तेरी जिज्ञासा बढ़ती रहेगी तो मेरी पत्रमाला चलती रहेगी।

तू स्वस्थ रहे, प्रसन्नचित्त रहे - यही मंगल कामना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

तेरे पत्र में तेरे मनोभावों का और विचारों का अवतरण हुआ है। अच्छा है, इस प्रकार मन तेरा हलका होता जाएगा। मन भारी हो, विचार मस्तिष्क के भीतर हथौड़े मारने लगें तो उन्हें हलका करने का कोई माध्यम होना चाहिए। अशांति की वेगमयी धारा ही भटकन और विचलन को जन्म देती है। ऐसी स्थिति में गलत विचार आते हैं और गलत कदम भी उठ जाते हैं।

चेतन, समग्र संसार अशांत है। शिकायतों से समूचा संसार व्याप्त है। ये शिकायतें अनंत-अपार हैं।

अभी मेरा कमरा शांत है, बंद है, शीतल है, वातावरण में गंभीरता है। जल, थल, नभ... तीनों शांत हैं। अन्यथा विराट नगर में शांति कहाँ? परंतु रात्रि नीरव है। भीतर की बाहरी शांति का अमृतपान कर रहा हूँ और तुझे यह पत्र लिखने बैठा हूँ।

चेतन, उर्ध्व-अधो और मध्यम भाग में विभक्त यह सृष्टि, यह लोक शाश्वत है। कभी यह लोक जन्मा नहीं, कभी यह लोक नष्ट नहीं होगा। जो हमेशा होता है, परंतु कभी पैदा नहीं होता और कभी नष्ट नहीं होता, उसको 'शाश्वत' कहते हैं।

शाश्वत लोक में सब कुछ शाश्वत है! जीव भी शाश्वत और जड़ भी शाश्वत! परंतु दुनिया की व्यवहार भाषा में 'जन्म' और 'मृत्यु' दो शब्द हम सुनते हैं। रूपपरिवर्तन होता है जीव का, तब 'इस की मृत्यु हुई, इसका जन्म हुआ,' ऐसा कहा जाता है। जड़ पुद्गल के लिए भी 'उत्पत्ति' और 'विनाश' दो शब्द कहे जाते हैं। पर्याय की उत्पत्ति एवं पर्याय का ही नाश होता है। 'मूलभूत द्रव्य' की न उत्पत्ति होती है, न विनाश।

जीव अनंत हैं,

एक-एक जीव के पर्याय अनंत हैं।

संसार के सभी-अनंत जीव 'कर्मों से आबद्ध हैं।

जीव-कर्म का संयोग अनादि है। यानी जीव कभी भी कर्म से मुक्त नहीं था। अनंत भूतकाल में कभी भी जीव शुद्ध नहीं था, स्वतंत्र नहीं था! कर्मों के बंधन में बँधा हुआ ही था और आज भी हम कर्मों के बंधनों में जकड़े हुए हैं।

तू पूछेगाः 'ये 'कर्म' क्या हैं?'

कर्म, जड़ पुद्गल हैं। कर्म-पुद्गल की जाति का नाम है 'कार्मण'। पुद्गलों की प्रमुख आठ जाति हैं। औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण। ये पुद्गल अनंत हैं। सारे लोक में, सृष्टि में भरे पड़े हैं। अति सूक्ष्म होने से अपन देख नहीं पाते हैं। परंतु जीवात्मा जब उन पुद्गलों को ग्रहण करता है तब कुछ पुद्गल दृष्टिपथ में आते हैं... कुछ नहीं आते।

'कार्मण' पुद्गल अति सूक्ष्म होते हैं। जीवात्मा जब उन पुद्गलों को ग्रहण करता है तब वे 'कर्म' कहलाते हैं। यानी जीवात्मा के संयोग से वे 'कर्म' बनते हैं।

तू कहेगाः आत्मा अरूपी है और कर्म रूपी है - दोनों का संयोग कैसे हो सकता है?

ऐसा प्रश्न, भगवान महावीरस्वामी को अग्निभूति गौतम ने पूछा था। भगवान ने समाधान किया था। 'कर्म' के विषय में बहुत सारे प्रश्न अग्निभूति ने पूछे थे! सभी प्रश्नों का समाधान भगवान ने किया था! समाधान होने पर, अग्निभूति गौतम भगवान के शिष्य बन गए थे।

चेतन, रूपी कहो या मूर्त कहो, अरूपी कहो या अमूर्त कहो, समान शब्द हैं। मूर्त और अमूर्त का संयोग होता है। कुछ दृष्टांतों से यह बात समझाता हूँः

- आकाश अमूर्त-अरूपी है न? और अपना शरीर मूर्त है! शरीर और आकाश का संबंध है न? है!

- आत्मा अमूर्त है और शरीर मूर्त है! आत्मा और शरीर का संबंध है न?

- शरीर मूर्त है, रूपी है, परंतु शरीर की सारी क्रियाएँ अमूर्त हैं! क्रियाएँ अमूर्त-अरूपी होती हैं सभी प्रकार की। शरीर और क्रियाओं का संबंध है।

- इसी प्रकार कर्म और आत्मा का संबंध है।

अलबत्, अपने लिए तो दोनों अरूपी हैं-आत्मा और कर्म! न हम आत्मा को देख सकते हैं, ना कर्मों को। अपनी किसी भी इंद्रिय से आत्मा और कर्म का अनुभव संभवित नहीं है। परंतु प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा दूसरे अनुमान प्रमाण, उपमान प्रमाण, संभव प्रमाण, आगम प्रमाण वगैरह प्रमाण हैं न? अनुमान प्रमाण से 'कर्म' का अस्तित्व और कर्म का प्रभाव मानना ही पड़ता है। अनुमान यानी तर्क। दूसरों को समझाने के लिए 'तर्क' - अनुमान ही साधन हैं। अनुमान तीन प्रकार के होते हैं -

१. कार्य से कारण का अनुमान,

२. कारण से कार्य का अनुमान,

३. सामान्य अनुमान।

सर्वप्रथम, पहले प्रकार का अनुमान समझ लें। गाँव में और गाँव के आसपास बरसात नहीं है, फिर भी गाँव के पास जो नदी बहती है, उस नदी में बाढ़ आती है, तो प्रश्न होता है कि बरसात के बिना नदी में बाढ़ कैसे आई? बाढ़ का कारण बरसात है! बाढ़ प्रत्यक्ष दिखती है, उसका कारण प्रत्यक्ष नहीं दिखता है, तो अनुमान किया जाता है कि नदी के ऊपर वास में बरसात आई होगी। यह हुआ कार्य से कारण का अनुमान।

दूसरा अनुमान होता है कारण से कार्य का अनुमान। कारण जहाँ प्रत्यक्ष दिखता हो, कार्य नहीं दिखता हो, वहाँ कार्य का अनुमान किया जाता है और सभी लोग करते हैं! एक उदाहरण से समझाता हूँ यह बात । आकाश में घनघोर बादल घिर आए हैं। तुझे घर से बाहर जाना ज़रूरी है। तू छाता लेकर या 'रेनकोट' लेकर बाहर जाएगा न? तू बरसात का अनुमान करता है। बादल कारण हैं, बरसात कार्य है। बादलों से तू बरसात का अनुमान कर, छाता या रेनकोट लेकर बाहर जाएगा। समझ गया न तू दूसरे प्रकार के अनुमान को?

तीसरा प्रकार सामान्य अनुमान का है।

जंगल में रास्ता भूल गए। सुबह से चलते रहे हैं... मध्याह्न होने पर भी गाँव नहीं दिखता है। थक कर एक वृक्ष के तले बैठ गए। उस समय पूर्व दिशा की ओर से कुत्तों के भौंकने की आवाज़ आती है... हम अनुमान करते हैः 'पूर्व दिशा में गाँव है। चूँकि बस्ती के बिना कुत्ते नहीं होते हैं, - यह एक सामान्य-साधारण धारणा होती है। हम पूर्व दिशा की ओर चल पड़ते है और प्रायः गाँव के बाहर कुत्ते ही हमारा स्वागत करते हैं।

जो वस्तु, जो तत्त्व हमारी इंद्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, यानी कान से सुनकर, आँखों से देखकर, नाक से सूँघकर, जीभ से चख कर अथवा हाथ से स्पर्श कर, जो वस्तु... जो तत्त्व हमारे अनुभव में नहीं आ सकता है, उस वस्तु का, उस तत्त्व का निर्णय अनुमान से, तर्क से किया जा सकता है।

'कर्म' ऐसा तत्त्व है। 'कर्म' को कानों से सुनकर या आँखों से देखकर

निर्णय नहीं कर सकते कि 'कर्म' है!' वैसे कर्म नाक से सूँघा नहीं जा सकता है, जीभ से उसका स्वाद नहीं आता है और हाथ से उस को छुआ नहीं जा सकता है। कर्म के अस्तित्व का निर्णय इसलिए अनुमान से किया गया है।

अलबत्, जो सर्वज्ञ होते हैं, केवलज्ञानी होते हैं (अभी इस दुनिया में कोई नहीं है! 'महाविदेह' नाम की दुनिया में है!) वे कर्मों को और कार्मण पुद्गलों को प्रत्यक्ष देख सकते हैं! वे आँखों से नहीं, आत्मा से ही देखते हैं!

जब श्रमण भगवान, महावीर सर्वज्ञ-वीतराग बने थे, तब उन्होंने चराचर विश्व को, आत्मा से प्रत्यक्ष देखा था। उन्होंने जो देखा, जैसा देखा, वो और वैसा लोगों को कहा। उनका कथन, उनका उपदेश सत्य था। चूँकि असत्य बोलने का कोई भी प्रयोजन शेष नहीं रहा था उनके लिए।

जो सर्वज्ञ-वीतराग बन जाते हैं, वे असत्य कभी नहीं बोलते। अज्ञानी, अपूर्ण ज्ञानी और रागी-द्वेषी जीव ही असत्य बोलते हैं। चूँकि असत्य बोलने के असंख्य प्रयोजन होते हैं उनको!

जो आत्माएँ सर्वज्ञ बन जाती हैं, वीतराग बन जाती हैं, वे अरूपी और अमूर्त तत्त्वों को भी प्रत्यक्ष देख लेती हैं। उनके लिए दुनिया का कोई भी तत्त्व अदृश्य नहीं रहता है।

इसी वजह से, श्रमण भगवान महावीरस्वामी, इन्द्रभूति गौतम को आत्मा के अस्तित्व को बता पाए। अग्निभूति गौतम को कर्म का अस्तित्व समझा पाए। चूँकि वे आत्मा को और कर्म को प्रत्यक्ष देख पाए थे।

भगवंत ने हजारों-लाखों लोगों के मन के समाधान किए थे। लोगों ने शांति पाई थी, मोक्षमार्ग पाया था और पूर्णता की ओर अग्रसर हो पाए थे। उन करुणानिधान भगवंत ने जो ज्ञानगंगा बहायी थी, आज उस ज्ञानगंगा में थोड़ा सा भी जो पानी बह रहा है, वह पानी लेकर, मैं तेरे मन का समाधान करने का प्रयत्न करता रहूँगा। आशा और विश्वास रखता हूँ कि तेरे मन का थोड़ा सा भी समाधान होगा।

पत्र समाप्त करता हूँ। स्वस्थ रहे-यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र पढ़कर मेरी प्रसन्नता बढ़ी।

मैं जिस संदर्भ में कर्मसिद्धांत समझाना चाहता हूँ, उसी संदर्भ में कर्मसिद्धांत समझने की तेरी तत्परता है, तेरी जिज्ञासा बढ़ी है, यह जान कर, मेरे इस प्रयत्न की मैं सार्थकता समझता हूँ।

तू जानना चाहता है कि श्रमण भगवान, महावीरस्वामी ने अग्निभूति गौतम को कैसे समझाया। आज इस पत्र में यही बात लिखता हूँ।

जिस प्रकार इन्द्रभूति गौतम, स्वयं 'आत्मा' के अस्तित्व के विषय में शंकित होते हुए भी स्वयं को 'सर्वज्ञ' मान कर चलते थे, वैसे उनके अनुज भी 'कर्म' के विषय में शंकित थे, फिर भी वे स्वयं को 'सर्वज्ञ' मानते थे। किसी को भी वे अपनी शंका बताते नहीं थे। हृदय में इस दंभ का पालन करते हुए फिरते थे।

परंतु, भगवान महावीर ने समवसरण में आए हुए इन्द्रभूति गौतम और अग्निभूति गौतम वगैरह ११ ब्राह्मणों के दंभ को चीर डाला। स्वयं ही भगवंत ने उनके मन की गहराई में छिपी हुई शंकाओं को बाहर निकाल दिया... और उन्होंने मान लिया कि 'हम सर्वज्ञ नहीं हैं, सर्वज्ञ तो भगवान महावीर ही

हैं!' और वे ११ ब्राह्मण भगवान के शिष्य बन गए।

जब अग्निभूति गौतम भगवान के पास पहुँचे तब भगवान ने धीर, गंभीर और मधुर आवाज में कहा : 'हे अग्निभूति गौतम, तुम सुखशातापूर्वक यहाँ आए?' अग्निभूति भगवान के शब्द और रूप पर मुग्ध हो गए।

भगवान ने कहा, 'अग्निभूति, तुमने वेद में पढ़ा कि : 'पुरुष एवेदं सर्वम्।' यानी 'इस सृष्टि में जो कुछ भी है वह आत्मा (पुरुष) है।' तुमने सोचा कि 'आत्मा के अलावा दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं इस सृष्टि में।' परंतु जब तुमने दूसरे शास्त्र में पढ़ा कि : 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा।' पुण्य कर्म से पुण्य बँधता है और पाप कर्म से पाप बँधता है! तब तुम्हारे मन में शंका पैदा हुई कि : 'कर्म' नाम का तत्त्व है या नहीं?'

अग्निभूति बोले : 'प्रभो, आपकी बात सही है। मेरे मन में 'कर्म' के अस्तित्व के विषय में शंका है। भगवंत, प्रत्यक्ष प्रमाण से भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है न?'

भगवंत ने कहा : 'महानुभाव, मैं मेरे ज्ञानालोक में कर्मों को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।'

अग्निभूति ने पूछा : 'भगवंत, मैं और दूसरे लोग क्यों नहीं देख सकते हैं?'

'चूँकि मेरे पास कर्म जैसे परोक्ष द्रव्यों को देखने की दृष्टि है, तेरे पास वैसी दृष्टि (केवलज्ञान की) नहीं है, इसलिए तू

कर्मों को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता है। जिस मनुष्य को केवलज्ञान प्रगट होता है वह कर्मों को प्रत्यक्ष देख सकता है। दूसरी बात, मैंने तेरे मन की शंका को देखी न? तू मानता है न?'

'प्रभो, आप के पास पूर्ण ज्ञान है, आप कर्मों को प्रत्यक्ष देखते हैं, परंतु मैं और मेरे साथी कर्म का अस्तित्व मानें - इसके कौन से तर्क हैं? मैंने तर्क-अनुमान से भी कर्म के अस्तित्व के विषय में सोचा है, परंतु मैं कर्म के विषय में निःशंक नहीं बना हूँ।'

'अग्निभूति, कार्य से कारण का अनुमान होता है न? सुख-दुःख के कोई

कारण होने चाहिए न? सुख का कारण पुण्य कर्म है और दुःख का कारण पाप कर्म है! सुख-दुःख कार्य हैं, कर्म उसके कारण हैं। जैसे अंकुर कार्य है तो बीज उसका कारण है!'

'हे भदंत, सुख और दुःख के प्रत्यक्ष कारण दिखते हों, तो फिर परोक्ष कारण (कर्म) क्यों मानना चाहिए? जीवात्मा को मधुर संगीत से, सुंदर रूप से, प्रिय रस से, प्रिय सुगंध से और मुलायम स्पर्श से सुख का अनुभव होता है और अप्रिय शब्द-रूप-रस-गंध और स्पर्श से दुःख होता है! धन से सुख होता है, निर्धनता से दुःख होता है! सुख-दुःख के ये प्रत्यक्ष कारण ही मानने चाहिए न?'

'अग्निभूति, सुख-दुःख के प्रत्यक्ष कारण, जो तूने बताए, वे वास्तविक नहीं है। सुख के कारण कभी दुःख के निमित्त बन जाते हैं और दुःख के कारण कभी सुख के निमित्त बन जाते हैं! निरोगी मनुष्य को मिष्टान्न सुख देता है, वही मिष्टान्न रोगी मनुष्य के लिए दुःख का कारण बनता है! तेरे गले में कोई पुष्पमाला डालेगा तो तू सुखी होगा... परंतु कुत्ते के गले में पुष्पमाला डालेगा.. तो कुत्ता उसे तोड़ डालेगा, फेंक देगा! फूलमाला को तू सुख का कारण मानेगा या दुःख का? हे महाभाग, तू राज्य वैभव को सुख का कारण मानता है न?'

'हाँ प्रभो!'

'मैंने राज्य वैभव को दुःख का कारण मान कर, उसका त्याग दिया! वैसे, ज़हर दुःख का कारण मानता है न? परंतु औषध के रूप में वही ज़हर सुख का कारण बनता है! इसलिए कहता हूँ कि सुख-दुःख के असाधारण कारण 'कर्म' हैं, पुण्य कर्म और पाप कर्म।

अग्निभूति, अब मैं दूसरा तर्क बताता हूँ कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए। वृद्ध शरीर के पूर्व युवा शरीर होता है, युवा शरीर के पूर्व बाल शरीर होता है... तो बाल शरीर के पूर्व भी कोई शरीर होना चाहिए न? वह होता है कार्मण शरीर। कार्मण शरीर यानी कर्म।'

'भगवंत, बाल शरीर के पूर्व, पूर्वजन्म का औदारिक शरीर मानें तो?'

'नहीं, पूर्वजन्म का शरीर (औदारिक) नष्ट हो जाता है। एक जन्म से (भव से) दूसरे जन्म तक आत्मा के साथ कार्मण शरीर रहता है। और उस कार्मण शरीर से ही दूसरे जन्म के शरीर की रचना होती है। इसलिए इस जन्म के शरीर का मूल कारण कर्म है।

अग्निभूति, तीसरा तर्क सुन ले, मनुष्य दान देता है, शील का पालन करता है, तप करता है... वैसे कोई भी क्रिया करता है, तो उसका फल मिलता है, यह तो तू मानता है न? जैसे किसान खेती करता है तो उसे धान्य की प्राप्ति होती है।'

'भगवंत, जीवात्मा की प्रत्येक क्रिया का फल मिलता ही है, ऐसा नियम तो नहीं है! जैसे किसान को कृषि से कभी धान्य नहीं भी मिलता है।'

'महानुभाव, बुद्धिमान जीव फल की दृष्टि से ही क्रिया करता है। फल नहीं मिलता है अज्ञान से अथवा सामग्री के अभाव के कारण। अन्यथा बुद्धिमान मनुष्य निष्फल प्रवृत्ति क्यों करेगा? पूर्ण सामग्री होने पर जीवात्मा की क्रिया फलवती होगी ही।'

'भगवंत, दान वगैरह धर्मक्रिया करनेवाले को अदृष्ट फल पुण्य कर्म का मिलता है - चूँकि वह चाहता है, परंतु कृषि आदि करनेवाला तो धान्य वगैरह प्रत्यक्ष फल चाहता है, तो फिर उसको अदृष्ट फल 'कर्म' की प्राप्ति कैसे होती है?'

'अग्निभूति, यहाँ चाहने न चाहने की बात नहीं है। हिंसा वगैरह पापक्रिया करनेवाला चाहे या न चाहे, पाप कर्म पैदा होगा ही! दान वगैरह धर्मक्रिया करनेवाला चाहे या न चाहे, पुण्य कर्म पैदा होगा ही। जैसा कारण, वैसा कार्य निष्पन्न होगा। चाहता है सुख और करता है पाप, तो क्या सुख मिलेगा? नहीं मिलेगा। दुःख ही मिलेगा।'

'भगवंत, यदि कार्य से कारण की सिद्धि होती है, तो जैसा कार्य हो उसके अनुरूप कारण होना चाहिए न?' 'होना चाहिए।'

'तो शरीर मूर्त है, शरीर का कारण कर्म है - ऐसा आप कहते हैं, तो कर्म भी मूर्त होने चाहिए न?'

'महानुभाव, कर्म मूर्त ही हैं। जैसे सोने का घड़ा अथवा मिट्टी का घड़ा एक कार्य है, उसका कारण परमाणु होते हैं। सोने के परमाणु या मिट्टी के परमाणु। घड़ा मूर्त है तो परमाणु भी मूर्त हैं! वैसे यदि कार्य अमूर्त होता है तो उसका कारण भी अमूर्त होता है। ज्ञान अमूर्त है तो उसका कारण आत्मा भी अमूर्त है! उसी प्रकार शरीर मूर्त है तो उसका कारण कर्म भी मूर्त है!'

भगवंत, सुख और दुःख अमूर्त हैं, तो सुख-दुःख के कारणभूत कर्म भी अमूर्त होने चाहिए न?'

'अग्निभूति, सुख-दुःख का उपादान-कारण तो आत्मा ही है, और आत्मा अमूर्त है। कर्म निमित्त कारण है।'

* * *

चेतन, कारण दो प्रकार के होते हैं - उपादान कारण और निमित्त कारण। कुम्हार घड़ा बनाता है न? घड़े के दो कारण होते हैं। मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार निमित्त कारण है। तंतुवाय कपड़ा बनाता है। तंतु उपादान कारण है, तंतुवाय निमित्त कारण है।

वैसे सुख-दुःख का उपादान कारण आत्मा है, निमित्त कारण कर्म होते हैं। चर्चा है मूर्त और अमूर्त की। कार्य मूर्त हो तो कारण मूर्त होना चाहिए।

'कर्म' पुद्गल होते हैं, इसलिए कर्म मूर्त होते हैं। पुद्गल मात्र मूर्त होता है।

चेतन, भगवान का और अग्निभूति का संवाद कितना सुंदर है! कितना शिष्ट और तलस्पर्शी है! चूँकि अग्निभूति के हृदय में भगवान के प्रति स्नेह जागृत हो गया था! भगवान तो करुणा के सागर थे ही! तत्त्वचर्चा में संवादिता होनी चाहिए। तत्त्वचर्चा में कटुता का प्रवेश नहीं होना चाहिए।

अभी भगवान और अग्निभूति का संवाद पूरा नहीं हुआ है। शेष चर्चा अगले पत्र में लिखूँगा।

तू स्वस्थ रहे, कुशल रहे, यही मंगल कामना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

मेरा पत्र पाकर तू आनंदित होता है - यह स्वाभाविक है। ज्यों-ज्यों तेरे मन का समाधान होता जाएगा त्यों-त्यों आनंद बढ़ता ही जाने वाला है। श्रमण भगवान महावीर और अग्निभूति गौतम का संवाद, बहुत लोगों को अच्छा लगा। अग्निभूति गौतम के मन का समाधान तो हो ही गया था, और वे भगवान के शिष्य बन गए थे, अभी यह संवाद पढ़कर कई लोगों के मन का समाधान हो रहा है! यह मेरे आनंद को बढ़ानेवाली बात है।

* * *

`भगवंत, फल की विचित्रता, कर्मों की विचित्रता के बिना संभवित नहीं होती, तो फिर बादलों में विचित्र प्रकार कैसे दिखाई देते हैं? चूँकि वहाँ कर्मवैचित्र्य नहीं है! वैसे जीवात्मा के सुख-दुःखों की विचित्रता भी कर्मवैचित्र्य के बिना मान सकते हैं न?'

अग्निभूति गौतम ने विनय से प्रश्न किया। भगवंत ने कहा :

'हे अग्निभूति, बाह्य पुद्गल-समूहों में यदि तू विचित्रता मानता है तो फिर आंतरिक कर्म-पुद्गलों में विचित्रता क्यों नहीं मानता है? बाह्य पुद्गलसमूहों के बजाय, जीव ने ग्रहण किए हुए कर्म पुद्गलों में ज्यादा विचित्रता होती है!'

'प्रभो, आपकी बात मान ली, परंतु मूर्त कर्मों का अमूर्त आत्मा पर अनुग्रह अथवा उपघात कैसे हो सकता है? जैसे अग्नि मूर्त है और आकाश अमूर्त है, तो अग्नि आकाश को जला नहीं सकती है।'

'महानुभाव, तेरा प्रश्न उचित है। परंतु मैं तुझे पूछता हूँ : ज्ञान मूर्त है या अमूर्त?'

'अमूर्त-अरूपी है प्रभो!'

'उस ज्ञान पर मदिरा (शराब) का असर होता है न? मदिरा जब कि मूर्त है, रूपी है! उस ज्ञान पर विषप्रयोग होता है न? वैसे, घी-दूध और ब्राह्मी चूर्ण वगैरह से ज्ञान बढ़ता है न? इस प्रकार अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्मों का शुभ-अशुभ असर

होता है। अग्निभूति, वास्तविक बात तो यह है कि संसारी जीव अमूर्त है ही नहीं! लोहे को जब अग्नि में तपाया जाता है तब लोहा अग्निरूप हो जाता है, वैसे आत्मा और कर्म अनादिकाल से जुड़े हुए हैं, अतः आत्मा कर्म रूप बनी हुई है। इस अपेक्षा से आत्मा मूर्त कही जाती है। कर्म मूर्त हैं, रूपी हैं, इनके संयोग से अरूपी आत्मा मूर्त बनी हुई है। ऐसी कर्मरूप बनी हुई आत्मा पर कर्मों के उपघात और उपकार हो सकते हैं।'

'भगवंत, आत्मा के साथ कर्मों का अनादिकालीन संबंध कैसे हो सकता है? मेरी समझ में यह बात नहीं बैठती है।'

'अरे पंडित, बहुत सरल बात है यह। आत्मा और कर्म का परस्पर कार्य-कारणभाव है! जैसे बीज से अंकुर पैदा होता है और अंकुर से बीज निष्पन्न होता है, बीज-अंकुर की परंपरा अनादि है वैसे कर्म-जीव की परंपरा भी अनादि है।'

'तो फिर आत्मा का मोक्ष कैसे हो सकता है प्रभो?'

'आत्मा और कर्म का संबंध अनादि है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह संबंध अनंतकालीन ही हो! अनादि संबंध का अंत हो सकता है। कर्मों का नाश होने पर आत्मा का मोक्ष होता है।'

'भगवंत, वेदों में कर्मनिषेध किया गया है - यह कैसे?'

'महानुभाव, वेदों में कर्मों का निषेध नहीं किया गया है। वेदों में कहा

गया है : 'स्वर्गकामो अग्निहोत्रं जुहुयात्।' 'स्वर्ग पाने की इच्छावाले को अग्निहोम करना चाहिए।' यह विधान, यदि कर्म का अस्तित्व नहीं मानें तो निरर्थक बन जाएगा। अग्निहोम करनेवाले जीव स्वर्ग में कैसे जाएगा? मनुष्य शरीर नष्ट हो जाता है, फिर जीव को स्वर्ग में कौन ले जाता है? अग्निहोम करने से शुभ कर्म बँधता है और वह शुभ कर्म स्वर्ग में जीव को ले जाता है। बिना कारण, कार्य हो नहीं सकता है। यदि कर्म को कारण नहीं मानोगे, तो स्वर्ग-प्राप्ति का दूसरा कारण बताना पड़ेगा न?'

'भगवंत, हम तो मानते हैं कि ईश्वर ही जीव को स्वर्ग में भेजता है और नरक में भी ईश्वर ही भेजता है! अरे, इस सृष्टि की रचना भी ईश्वर ने की है - वैसी हमारी (ब्राह्मणों की) मान्यता है।'

'परंतु महानुभाव, ईश्वर ये सारे काम कैसे करता है? क्या ईश्वर शरीरधारी है? क्या कार्य करने के साधन-उपकरण हैं उसके पास? कुम्हार घड़ा बनाता है, उसके पास चक्र-दंड वगैरह साधन होते हैं तब वह घड़ा बना सकता है। अशरीरी ईश्वर सृष्टि क्या, एक शरीर की भी रचना नहीं कर सकता है।

'भगवंत, ईश्वर को शरीरधारी मान लें, फिर कर्मों का अस्तित्व क्यों मानें?'

'महानुभाव, तू वेदों को जानता है। ईश्वर ने अपना शरीर सकर्मा होकर बनाया या अकर्मा होकर? अकर्मा ईश्वर शरीर रचना नहीं कर सकता! उपकरण के बिना, साधन के बिना कार्य हो नहीं सकता है। यदि तू कहता है : सकर्मा ईश्वर ने अपना शरीर बनाया, तो कर्म का अस्तित्व मान ही लिया! तो फिर कर्मबद्ध जीव स्वयं अपना शरीर बनाता है, यह मानना ही उपयुक्त होता है। और, तू जो कहता है कि 'सृष्टि की रचना ईश्वर ने की है,' यह भी बात उचित नहीं है। ईश्वर क्यों सृष्टि की रचना करेगा?'

'प्रभो, ईश्वर को इच्छा हुई कि 'मैं अकेला हूँ... अनेक हो जाऊँ!' 'एकोऽहं बहु स्याम्' और अनेक होने के लिए सृष्टि पैदा की!'

'अग्निभूति, इच्छा होना अपूर्णता की निशानी है। अपूर्ण आत्मा को ही

इच्छा होती है। क्या तू ईश्वर को अपूर्ण मानता है? यदि तू मानता है ईश्वर को अपूर्ण, तो अपूर्ण असर्वज्ञ ईश्वर की रचना दोषपूर्ण होगी!'

'प्रभो, हम ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हैं!'

'सर्वशक्तिमान व्यक्ति, क्या दोषपूर्ण सृष्टि की रचना करेगा? उसकी रचना सर्वांगसंपूर्ण और सुखभरपूर होनी चाहिए। सृष्टि में ज्यादा जीव दुःखी है।'

'भगवंत, जो पाप करता है उसको ईश्वर सज़ा करता है और जो धर्म करता है उस पर कृपा करता है।'

'परंतु है अग्निभूति, जीव को पाप क्यों करने देता है ईश्वर? क्या रोक नहीं सकता है, पाप करते हुए जीव को? पाप करने देता है और फिर सज़ा करता है, यह तो अनुचित है। और, तू ईश्वर को 'अनादि शुद्ध' मानता है न?'

'हाँ प्रभो!'

'अनादि शुद्ध का अर्थ होता है रागरहित और द्वेषरहित। जो रागरहित होता है उसको इच्छा नहीं होती है। इच्छा, बिना

राग हो ही नहीं सकती है! शुद्धात्मा को राग नहीं होता, इसलिए इच्छा नहीं हो सकती। इच्छा नहीं तो सृष्टिरचना नहीं!'

'आपकी बात युक्तियुक्त है भगवंत। परंतु शरीर रचना वगैरह, कार्यों में 'कर्म' नहीं मानते हुए, 'स्वभाव' मानें तो क्या आपत्ति हो सकती है? सब कुछ स्वभाव से हो रहा है। जैसे कमल की कोमलता स्वाभाविक होती है, काँटे की तीक्ष्णता स्वाभाविक होती है, मयूरपिच्छ की सुंदरता स्वाभाविक होती है और चन्द्रिका की धवलता स्वाभाविक होती है!'

'अग्निभूति, तू जिस तत्त्व को स्वभाव कहता है, वह स्वभाव मूर्त है या अमूर्त? यदि तू स्वभाव को मूर्त मानता है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। वह कर्म का ही दूसरा नाम है। यदि तू स्वभाव को अमूर्त मानता है, तो आपत्ति है! जो अमूर्त होता है वह 'कर्ता' नहीं हो सकता। जैसे आकाश अमूर्त है तो वह कुछ नहीं करता है। और, एक सिद्धांत समझ ले - मूर्त का कारण मूर्त

ही होना चाहिए। कार्य के अनुरूप कारण होना चाहिए।'

अग्निभूति गौतम के मन का समाधान हो गया। समाधान करनेवाले भगवान महावीर स्वामी के वे परम विनीत शिष्य बन गए। चेतन, यह संवाद की फलश्रुति है। वाद-विवाद से ऐसी फलश्रुति प्राप्त नहीं हो सकती है।

समाधान पाना है तो संवादिता आवश्यक है। जो-जो व्यक्ति भगवान के पास समाधान पाने गए, उन्होंने भगवान से संवादिता प्राप्त की, उनके मन का समाधान हो गया। जिन्होंने भगवान से वाद-विवाद करने का साहस किया, उनके मन का समाधान नहीं हो पाया, वे भगवान के प्रति भी द्वेष कर के गए।

हालाँकि अपने तो इस बात का भी समाधान करते हैं। 'मोहनीय कर्म' के प्रबल उदय से ही जीव, परमात्मा के प्रति भी द्वेष करता है। द्वेष, 'मोहनीय कर्म' से उत्पन्न होता है। 'राग' भी मोहनीय कर्म से ही पैदा होता है।

बहुत समझाने पर भी, सत्य का स्वीकार मनुष्य नहीं कर सकता है, उस समय उस मनुष्य पर रोष नहीं करना है, परंतु अपने मन का समाधान करना है - 'इस मनुष्य का ज्ञानावरण कर्म ही ऐसा है, जो उसको सत्य नहीं समझने देता है। इसका 'मिथ्यात्व मोहनीय' कर्म ऐसा है, जो उसको असत्य छोड़ने नहीं देता है।'

कर्मसिद्धांत का माध्यम, श्रेष्ठ माध्यम है अपने मन का समाधान पाने में और दूसरों के मन का समाधान करने में। ये सारी बातें बाद में विस्तार से लिखूँगा। अगले पत्र में 'कर्मबंध' के विषय में लिखूँगा। 'कर्मबन्ध' के हेतु कौन-कौन से हैं और कर्मबंध होता है, तब कौन-कौन सी बातें निश्चित होती हैं।

तू ये पत्र, कम से कम तीन बार पढ़ना ही। हर बात को समझने का प्रयत्न करना। स्वस्थ रहे - यही मंगल कामना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला। आनंद।

अग्निभूति की बुद्धि का ही मात्र समाधान नहीं था, समाधान था उसकी संपूर्ण आत्मा का। उनकी आत्मा के किसी एक प्रदेश में भी 'कर्म' के विषय में शंका रही नहीं थी। 'प्रभु के चरणों में ही समाधान मिल सकता है... समाधान से ही शांति है, समाधान में ही भीतर का सुख है।' इसलिए उन्होंने अपना समग्र जीवन ही समर्पित कर दिया परमात्मा के चरणों में। अनंत जन्मों में जितनी भी शंकाएँ संचित की थी, सभी शंकाओं के समाधान पा लिए और वे एक दिन सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

चेतन, 'कर्मसिद्धांत' के माध्यम से 'समाधान' पाने के लिए, उस सिद्धांत को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। आज मैं तुझे 'कर्मबंध' के विषय में कुछ लिखता हूँ।

आत्मा कर्मबंध चार प्रकार से करती है।

- प्रकृतिबंध
- प्रदेशबंध
- स्थितिबंध
- रसबंध

'प्रकृतिबंध' और 'प्रदेशबंध' होता है 'योग' यानी मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। कर्मसिद्धांत में जहाँ-जहाँ 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है, मन-वचन और काया की प्रवृत्ति के अर्थ में हुआ है।

स्थितिबंध और रसबंध होता है 'कषाय' से। 'कषाय का अर्थ है क्रोध, मान, माया और लोभ।

तात्पर्य यह है कि कर्म के स्वभाव का निर्माण और कर्मपुद्गल की संख्या का परिमाण 'योग' के माध्यम से होता है। आत्मा के साथ कर्मबंधन के काल-समय का निर्णय और कर्मों की तीव्र अथवा मंद फल (प्रभाव) देने की शक्ति की निर्मिति 'कषाय' के माध्यम से होती है।

चेतन, यह 'योग' और 'कषाय' प्रत्येक आत्मा के साथ संलग्न होते ही हैं। अलबत्त, ये योग और कषाय भी 'कर्म' से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए कह सकते हैं कि कर्म से ही कर्म बँधते हैं!

कषाय यानी क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोध और मान 'द्वेष' के रूप हैं, माया और लोभ 'राग' के रूप हैं। इस दृष्टि से कषाय को 'राग-द्वेष' भी कह सकते हैं। ये राग-द्वेष, कर्मबंध के प्रमुख हेतु हैं। किसी भी वस्तु या व्यक्ति पर राग किया या द्वेष किया... कि 'कर्मबंध' हो जाता है।

- यदि राग-द्वेष मंद होते हैं तो कर्मबंध मंद होता है,

- यदि राग-द्वेष मध्यम होते हैं तो कर्मबंध मध्यम होता है,

- यदि राग-द्वेष तीव्र होते है तो कर्मबंध प्रबल होता है।

मंद कर्मबंध से सामान्य फल मिलता है, मध्यम कर्मबंध से मध्यम फल मिलता है, और तीव्र कर्मबंध से भरपूर फल मिलता है। अति मंद राग-द्वेष से बँधे हुए कर्म, कभी फल देते भी नहीं हैं...। इस विषय में अभी मैं विस्तार से नहीं लिखता हूँ। अभी तो 'कर्मबंध' के विषय में तुझे समझाना है।

चेतन, जो 'कार्मण' नाम के पुद्गल जीवात्मा ग्रहण करता है वे कार्मण पुद्गल समग्र लोक (चौदह राज) में भरे पड़े हैं। वैसे औदारिक, वैक्रिय वगैरह पुद्गल भी भरे पड़े हैं। परंतु जीवात्मा उन्हीं पुद्गलों को ग्रहण करता है, जो कार्मण-पुद्गल, जीवात्मा के प्रदेश में होते हैं।

सभी पुद्गल मूर्त-रूपी होते हैं। पुद्गल में रूप, रस, गंध और स्पर्श होता है, फिर भी अपन सूक्ष्म कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों को देख नहीं सकते हैं। जीवात्मा कार्मण पुद्गलों को ग्रहण करता है... जीव के साथ वे पुद्गल बँधते हैं... वगैरह प्रक्रिया 'ओटोमेटिक' सहजता से होती रहती है। पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ पुरुष ही इस प्रक्रिया को प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

जीवात्मा के साथ जुड़ते ही वे 'कार्मण पुद्गल' 'कर्म' कहलाते हैं। उन कर्मों में, बँधते ही चार बातों का निर्माण हो जाता है। १. स्वभाव (प्रकृति) २. कालमर्यादा (स्थिति) ३. फलानुभव कराने वाली शक्ति (रस) और ४. कर्मपुद्गलों की संख्या (प्रदेश).

यह बात एक दृष्टांत से तुझे बताता हूँ -

एक गाय घास खाती है। घास में से दूध बनता है। जिस समय घास में से दूध बनता है उस समय उस में मीठेपन का स्वभाव आता है, मीठापन कब तक टिकेगा, उसकी काल-मर्यादा भी निश्चित हो जाती है, उस मीठेपन की मंदता अथवा तीव्रता भी निर्मित हो जाती है और उस दूध में कितने पुद्गल-परमाणु हैं - यह संख्या भी निश्चित हो जाती है।

इसी प्रकार, जब कार्मण पुद्गल आत्मा के साथ जुड़ कर 'कर्म' बनते हैं, उस समय 'स्वभाव' वगैरह चार बातें निश्चित हो जाती हैं। पहले मैं तुझे स्वभाव-प्रकृति की बात करता हूँ। स्वभाव-बंध कहें या प्रकृति-बंध कहें-एक ही बात है।

आत्मा जब 'कार्मण' पुद्गल ग्रहण करती है, वे पुद्गल आठ प्रकार की कर्म-प्रकृति में विभाजित हो जाते हैं, विभाजन समान नहीं होता है। कम-ज्यादा होता है।

- कुछ कर्म आत्मा के ज्ञानगुण के घातक स्वभाव के बन जाते हैं,

- कुछ कर्म आत्मा के सामान्य बोध के आवारक स्वभाव के बन जाते हैं और आत्मजागृति में बाधक-स्वभाव के बन जाते हैं,

- कुछ कर्म, सुख-दुःख का अनुभव कराने के स्वभाव के बन जाते हैं,

- कुछ कर्म, आत्मा को मोहमूढ़ बनाने के स्वभाव के बन जाते हैं,

- कुछ कर्म, जीव को निश्चितकाल के लिए उस जन्म के शरीर में बाँधकर रखने के स्वभाव के बन जाते हैं,

- कुछ कर्म, शरीर, शरीर के अवयव, जीव की गति, जाति, यश-अपयश सौभाग्य-दुर्भाग्य और इंद्रियनिर्माण वगैरह का

निर्माण करने के स्वभाव के बन जाते हैं।

- कुछ कर्म, जीव की उच्च जाति, नीच जाति का निर्माण करने के स्वभाव के बन जाते हैं,

- कुछ कर्म, दान देने में, भोग भोगने में, प्राप्ति होने में और शक्ति प्राप्ति में अवरोध करने के स्वभाव के बन जाते हैं।

कर्म इस प्रकार, आठ प्रकार के स्वभाववाले बँधते हैं। स्वभाव कहें या प्रकृति कहें - एक ही है। कर्मसाहित्य में 'प्रकृति' शब्द प्रचलित है, इसलिए इसको 'प्रकृतिबंध' कहते हैं।

ऊपर जिस क्रम से कर्म के भिन्न-भिन्न स्वभाव बताए, उस क्रम से उनके आठ नाम प्रसिद्ध हैं -

१. ज्ञानावरण कर्म,

२. दर्शनावरण कर्म,

३. वेदनीय कर्म,

४. मोहनीय कर्म,

५. आयुष्य कर्म

६. नाम कर्म

७. गोत्र कर्म

८. अंतराय कर्म

जीवात्मा अपने मनोयोग से, वचन योग से और काययोग से कर्मों के स्वभाव का - प्रकृति का निर्माण करता है। विशेष रूप से 'मनोयोग' स्वभाव-निर्धारण में कारण होता है।

वैसे तो कर्मबंध में, आठों कर्मों के बंधन में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग की सहायता से राग-द्वेष कारण होते हैं। राग-द्वेष के सहायक होते हैं ये मिथ्यात्व वगैरह। इस सहायक मंडल के सहारे राग और द्वेष ने आत्मभूमि को कर्मों का डरावना बीहड़ वन बना रखा है। और इस सहायक मंडल के जोर पर तो उनका अस्तित्व टिका हुआ है!

चेतन, मिथ्यात्व वगैरह का थोड़ा परिचय दे दूँ! मिथ्यात्व वगैरह की पहचान करना बहुत आवश्यक है।

- सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर राग नहीं करने देता है वह मिथ्यात्व। कुदेव, कुगुरु और कुधर्म पर राग करवाता है यह मिथ्यात्व। जिनोक्त तत्त्वों पर, आत्मा श्रद्धावान न बन जाए, इस बात की पूरी निगरानी यह मिथ्यात्व

रखता है।

- रागद्वेष के सहायक मंडल में दूसरा स्थान है अविरति का। किसी जीव को हिंसा-वगैरह पापों को छोड़ने नहीं देती है। कोई व्रत, नियम या प्रतिज्ञा लेने नहीं देती है। हेय का त्याग और उपादेय का स्वीकार करने नहीं देती है। सारे देवलोक पर, समग्र नरक भूमि पर और मानवलोक में इस अविरति का अपना साम्राज्य है! अपना वर्चस्व है।

- प्रमाद का कार्यक्षेत्र व्यापक है। देशकथा, राजकथा, स्त्रीकथा और भोजनकथा, यह प्रमाद करवाता है। भौतिक विषयों का खींचाव-आकर्षण, इस प्रमाद की वजह से है। पाँचों इंद्रियों के साथ प्रमाद ही स्वच्छंद विहार करवाता है। निद्रा तो प्रमाद का प्रमुख कार्य है।

- तन-मन और वचन के माध्यम से कषाय, आठों तरह के कर्मों के बंधन का भगीरथ कार्य करते हैं। गंदे और घिनौने विचार, कर्कश और कडुए बोल... हिंसा-झूठ वगैरह पापों का आचरण... यह है योग का कार्य! जब तक योग, कषाय के सहायक के रूप में काम करता है... तब तक ऐसे काम होते हैं।

इस चांडाल चौकड़ी के पूरे सहयोग से रागद्वेष, कर्मबंधन में निमित्त बनते हैं। रागद्वेष अकेले तो कुछ नहीं कर सकते हैं। यदि मिथ्यात्वादि का सहारा छीन लिया जाय तो ये रागद्वेष अति मंद होकर, आत्मा के महान उपकारी भी बन सकते हैं।

चेतन, आज इस पत्र में मुख्य रूप से 'प्रकृतिबंध' की बात लिखी है। स्थितिबंध, प्रदेशबंध और रसबंध की बातें आगे लिखूँगा। कर्मसिद्धांत को समझने के लिए इतना प्राथमिक ज्ञान होना आवश्यक है।

तू स्वस्थ रहे, कुशल रहे, यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ६

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला। आनंद।

'प्रकृतिबंध' तू स्पष्टता से समझ गया और मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद एवं योग के विषय में तुझे विशेष अभिरुचि हुई - जानकर मुझे आनंद हुआ। 'कर्मसिद्धांत' की ये मौलिक बातें हैं। ज्यों-ज्यों इन बातों को समझता जाएगा.. त्यों-त्यों कई प्रश्नों का समाधान होता जाएगा।

आज सर्वप्रथम मैं 'प्रदेशबंध' को समझाता हूँ।

आत्मा के असंख्य प्रदेशों में कर्मपुद्गलों का प्रवेश होना और रहना, यह है प्रदेशबंध! आत्मा में कर्मपुद्गल ऐसे प्रविष्ट हो जाते हैं कि रागद्वेष से आवृत आत्मा को उसका पता ही नहीं लगता है, ख़्याल ही नहीं आता है।

तू पूछेगा कि, क्या ये कर्मपुद्गल आत्मा में यों ही चले आते हैं? नहीं, कर्मपुद्गल अकारण ही आत्मा में नहीं चले आते। आत्मा मन से विचार करती है, वचन से बोलती है और शरीर की पाँचों इंद्रियों से प्रवृत्ति करती है, इसलिए कर्मपुद्गल आत्मा में आते हैं और स्थिर बनते हैं।

यह एक बहुत ही पैनी प्रक्रिया है। प्रतिक्षण... प्रतिपल... हर समय यह प्रक्रिया हर एक जीवात्मा में चालू रहती है। मन-वचन-काया के यंत्र निरंतर चालू रहते हैं, अतः कर्मपुद्गल का आत्मा में प्रवेश भी निरंतर बना रहता है। उन कर्मपुद्गलों की संख्या का निर्धारण जो होता है, वह प्रदेशबंध है।

- इस प्रकार 'योग' से प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होते हैं।

- बंधे हुए कर्मों की फलानुभूति 'कषाय' से होती है।

- जघन्य-मध्यम और उत्कृष्ट कर्मस्थिति का निर्माण 'लेश्याओं' से होता है। 'लेश्या' यानी आत्मा के अध्यवसाय, मन के विचार।

चेतन, अब तू समझ गया होगा कि क्यों हमारे तीर्थंकरों ने मन को पापविचारों से मुक्त करने का और शुभ-शुद्ध विचारों से मन को निर्मल करने का उपदेश दिया? क्यों अप्रिय, कर्कश और असत्य वचन बोलने की मनाही की और प्रिय एवं सत्य वचन बोलने का ही आग्रह किया? क्यों पाँचों इंद्रियों का निग्रह कर के इंद्रिय संयम करने का उपदेश दिया? शुभ विचार-वाणी एवं व्यवहार से शुभ कर्मों का बंध होता है।

शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख का अनुभव जीवात्मा कषाय से करती है। कषायों का क्षय-नाश हो जाने पर आत्मा में सुख-दुःख की संवेदनाएँ पैदा नहीं होती है। जिस समय प्रकृतिबंध होता है उसी समय रसबंध होता है। सुख-दुःख का अनुभव (मंद, मध्यम, तीव्र) रसबंध पर आधारित होता है। तीव्र अध्यवसाय से यदि शुभ कर्म का बंध किया है तो उस कर्म के उदय समय सुख की संवेदना भी तीव्र होगी, और यदि अशुभ कर्म का बंध तीव्र अध्यवसाय से हुआ है तो फिर दुःख की अनुभूति भी तीव्र होगी।

चेतन, अब 'स्थितिबंध' को भी समझ ले।

एक चित्रकार भित्ति पर जब चित्रांकन करता है, लाल, पीले, आसमानी और अन्य मिश्रित रंगों से एक सुंदर नयनरम्य चित्रांकन भित्ति पर, या फिर रेक्जीन' पर करता है, वह तूने कभी देखा है क्या? हाँ, हो सकता है, यदि तूने उड़ती निगाहों से चित्र को देख भी लिया हो और चल दिया हो, उस चित्र के निर्माण की गहराइयों में नहीं उतरा हो, उस पर चिंतन नहीं किया हो।

कभी तूने ऐसा सोचा भी है कि ये लाल-पीले रंग दीवार आदि पर ठहरते कैसे हैं? दीवार आदि पर रंगों को दीर्घकाल पर्यंत टिकाने वाला ऐसा कौन सा तत्त्व है? क्या पानी? नहीं, पानी के सहारे रंग दीर्घकाल तक नहीं रह सकते। पानी सूख जाय तो रंग भी उखड़ जाएँ! तो दूसरा कौन सा ऐसा तत्त्व है? श्लेष, सरेश, गोंद! रंगों में यदि श्लेष-सरेश को घोल दिया जाय,

और उस रंग से चित्रांकन किया जाय तो वह चित्र दीवार पर लम्बे अरसे तक बना रहेगा।

आत्मा दीवार है और कर्मपुद्गल रंग हैं। कर्मपुद्गल यों ही आत्मा की दीवार पर नहीं चिपकते। बीच में कोई गोंद

चाहिए। वह गोंद है लेश्याएं।

कोई कर्म-पुद्गल आत्मा पर पच्चीस साल तक बने रहते हैं और कोई कर्म - पुद्गल आत्मा के साथ पाँच सौ साल तक जुड़े रहते हैं, इस समय-मर्यादा का निर्धारण-नियंत्रण लेश्याएं करती हैं। लेश्याएं छः प्रकार की होती हैं। वे दो विभाग में विभाजित हैं - शुभ और अशुभ।

- कृष्णालेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या अशुभ हैं।

- तैजसलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या शुभ हैं।

जिस तरह स्फटिक मणि भिन्न-भिन्न रंगों के माध्यम से भिन्न-भिन्न रंगवाली प्रतिभासित होती है, वैसे कृष्ण (काले) वगैरह द्रव्यों का संग पाकर आत्मा के परिणाम, अध्यवसाय उसी रंग में परिणत होते हैं। आत्मा की इस परिणति के लिए 'लेश्या' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस आत्मपरिणति को 'भावलेश्या' कहते हैं और जो काले वगैरह द्रव्य आत्मा के संपर्क में आते हैं, उन द्रव्यों को 'द्रव्यलेश्या' कहते हैं। द्रव्यलेश्या पौद्गलिक होती है, भावलेश्या आत्मपरिणतिरूप होती है।

चेतन, परिणाम, अध्यवसाय और लेश्या - इन तीनों का घनिष्ठ संबंध है। जहाँ परिणाम शुभ होते हैं, अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं, वहाँ लेश्या विशुद्धमान होती है। इससे विपरीत, परिणाम जब अशुभ होते हैं, तब अध्यवसाय अप्रशस्त होते हैं और लेश्या संक्लिष्ट होती हैं।

कर्मों के 'स्थितिबंध' में लेश्याएं प्रमुख कारण हैं। लेश्याओं के विषय में विस्तार से समझना हो तो 'प्रशमरति-विवेचन' में मैंने जो परिशिष्ट दिया है, वह पढ़ना। दूसरे भाग में परिशिष्ट है।

चेतन, अब मैं तुझे कर्मबंध के विषय में कुछ गहराई में ले जाता हूँ। घबराना नहीं, मैं तेरे साथ हूँ...! सरलता से समझाऊँगा। तुझे आनंद का अनुभव होगा।

- जीवात्मा, मन-वचन और काया से कोई प्रवृत्ति करता है,

- कार्मण-पुद्गल आत्मा के साथ जुड़ते हैं।

- जुड़ते ही वे आठ प्रकार की प्रकृति में विभाजित हो जाते हैं,

- यह विभाजन समान रूप से नहीं होता है, कैसे होता है विभाजन वह बात बताता हूँ। जीवात्मा एक ही विचार करता है... उस एक विचार से जो कार्मण-पुद्गल आत्मा में प्रविष्ट होते हैं, वे पुद्गल

- कम से कम संख्या में 'आयुष्य-कर्म' रूप बनते हैं,

- उनसे ज्यादा पुद्गल 'नामकर्म' और 'गोत्र कर्म' रूप बनते हैं। इन दो कर्मों के पुद्गल समान होते हैं।

- उनसे ज्यादा कार्मण-पुद्गल ज्ञानावरण-रूप, दर्शनावरण-रूप और अंतराय-रूप बनते हैं। तीनों कर्मों के कार्मण-पुद्गल समान रूप से होते हैं, कम-ज्यादा नहीं।

- उन तीनों कर्मों से ज्यादा कार्मण-पुद्गल मोहनीय कर्म रूप बनते हैं।

- मोहनीय से ज्यादा कार्मण-पुद्गल 'वेदनीय-कर्म रूप बनते हैं। यानी सबसे ज्यादा कर्म-पुद्गल वेदनीयरूप बनते हैं। चूँकि जीव प्रति पल... प्रति समय सुख-दुःख का अनुभव करता है। सुख-दुःख का अनुभव 'वेदनीय-कर्म' की वजह से होता है। सबसे ज्यादा व्यय वेदनीय कर्म का होता है, इसलिए सबसे ज्यादा 'आय' भी उसी कर्म की है।

चेतन, समझ गया न? कर्मबंध को इस प्रकार समझाना बहुत आवश्यक है। एक विशेष बात बता देता हूँ।

जीव 'आयुष्य कर्म' एक बार ही बाँधता है। सामान्यतः प्रति समय सात कर्म ही बँधते हैं। और, जब सात कर्म ही बँधते हैं, तब सब से कम कर्मपुद्गल 'नाम कर्म' और 'गौत्र कर्म' को मिलते हैं।

* * *

आत्मा के साथ कर्मों का जुड़ना चार प्रकार से होता है। कालसमय की दृष्टि से 'स्थितिबंध' बताया गया है। 'स्थितिबंध के आधार पर, चार प्रकार

बताये गए हैं।

- पहला है 'स्पृष्ट' कर्मबंध। जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र के ऊपर रज गिरती है, कपड़े को झटकने से रज दूर हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के साथ कर्म जुड़ते हैं, परंतु आत्मा निर्मल-स्वच्छ होती है तो शुभ भाव का झटका लगने से वे कर्म दूर हो जाते हैं।

- दूसरा प्रकार है 'बद्ध' कर्मबंध। जिस प्रकार चिकने वस्त्र पर रज गिरती है तो उस वस्त्र को साफ करने में मेहनत करनी पड़ती है, उसी प्रकार यदि आत्मा मिथ्यात्व-कषाय आदि से मैली है, तो कर्म सख़्त रूप से जुड़ते हैं। विशेष तपश्चर्या आदि का पुरुषार्थ करने से अथवा उन कर्मों को भोगने से ही वे कर्म नष्ट होते हैं।

- तीसरा प्रकार है 'निधत्त' कर्मबंध का। जिस प्रकार चिकने वस्त्र पर वैसे दाग़ पड़ते हैं कि जो दाग़ धोने पर जाते ही नहीं! वस्त्र फट जाएँ परंतु दाग़ नहीं जाएँ! वैसे कुछ कर्म वैसे बँधते हैं... जो तप से, ज्ञान से या ध्यान से नष्ट नहीं होते हैं। वे कर्म भोगने से ही नष्ट होते हैं।

- चौथा प्रकार है 'निकाचित' कर्मबंध का। यह कर्मबंध सबसे ज्यादा प्रगाढ़ होता है। अति तीव्र अध्यवसाय से (शुभ या अशुभ) यह कर्मबंध होता है।

कर्मबंध की ये सारी प्रक्रियाएँ हैं। क्या करने से कौन से और कैसे कर्म बँधते हैं, यह अभी नहीं लिखता हूँ। अभी एक या दो पत्रों में, दूसरे वैदिक, बौद्ध वगैरह धर्मों में 'कर्म' के विषय में क्या लिखा गया है, वे बातें बताऊँगा। आत्मवादी दर्शनों में जिस प्रकार आत्मा के विषय में चिंतन हुआ है, वैसे आत्मा को आवृत करनेवाले तत्त्वों के विषय में भी गहरा चिंतन हुआ है।

तू एकाग्रता से इन पत्रों को पढ़ना। शांति से पढ़ना।

तू स्वस्थ रहे, प्रसन्नचित्त रहे - यही मंगलकामना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ७

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला।

आनंद।

आत्मा और कर्म के संबंध में तूने जो लिखा - तपाए हुए लोहे के गोले के साथ जैसा अग्नि का संबंध है, वैसा आत्मा और कर्मों का संबंध है क्या?' हाँ, है वैसा संबंध। संतप्त लोहगोलक के कण-कण में जैसे अग्नि व्याप्त होती है वैसे आत्मा के हर प्रदेश में कर्म व्याप्त हैं, सिवाय आठ 'रुचक प्रदेश'। तू कहेगा ये 'रूचक प्रदेश' क्या होते हैं? 'आत्मा के असंख्य प्रदेश में अनादिकाल से ये आठ प्रदेश कर्ममुक्त होते हैं। यह नियम सभी संसारवर्ती जीवात्माओं के लिए समान रूप से है। सिद्ध आत्माओं के सभी आत्मप्रदेश कर्ममुक्त होते हैं। आठ कर्ममुक्त आत्मप्रदेशों का नाम 'रूचक प्रदेश' दिया गया है।

चेतन, आत्मा और कर्म का संबंध दूध और पानी के दृष्टांत से भी समझाया गया है। जैसे दूध के साथ पानी का संबंध होता है, वैसा आत्मा और कर्म का संबंध है। दूध से पानी को अलग किया जा सकता है, वैसे आत्मा से कर्मों को दूर किया जा सकता है।

तीसरी उपमा सूर्य और बादल की भी दी जाती है। जिस प्रकार सूर्य

बादलों से ढक जाता है वैसे कर्मों से आत्मा आवृत है। आत्मा पर कर्मों का आवरण होता है। बादल का आवरण दूर होने पर जैसे सूर्य झगमगाता है वैसे कर्म दूर होने पर आत्मा मूल रूप में प्रगट होती है।

आत्मा और कर्म के संबंध में, अब तेरे मन में स्पष्टता हो जाएगी।

चेतन, आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने लिखा है : न हि नाममात्र भेदेन भावा भिद्यन्ते। नाम के भेद से तत्त्व में भेद नहीं आता है। हम जिनको पाप कर्म और पुण्य कर्म कहते हैं, दूसरे कुछ धर्मवाले 'कुशल' और 'अकुशल' (पाप) कहते हैं। शुक्ल (पुण्य) और कृष्ण (पाप) भी कहते हैं। भगवद्गीता में सत्व, रजस्, तमस् - ये तीन भेद कर्म के बताए हैं।

'योगदर्शन' में श्री पतंजलि ने कर्म के दो भेद बताए हैं -

१. दृष्ट जन्म-वेदनीय, २. अदृष्ट जन्म-वेदनीय।

जिस कर्म का जिस भव में संचय किया जाता है, उसी भव में उस कर्म का फल भोगा जाता है, उसका नाम है दृष्ट जन्म-वेदनीय। और, जिस संचित कर्म का फल दूसरे जन्म में भोगा जाता है वह है अदृष्ट जन्म-वेदनीय।

इन दो प्रकार के कर्मों के दो दो उपभेद हैं - १. नियत विपाक और २. अनियत विपाक। जिस कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है वह 'नियत विपाक' कहा जाता है और जिस कर्म का फल भोगना पड़े, नहीं भी भोगना पड़े, उसका नाम

'अनियत विपाक' है।

'बौद्धदर्शन' में कर्म के तीन प्रकार बताए गए हैं : कुशल, अकुशल और अव्याकृत। इसी के अर्थ में दूसरे तीन प्रकार बताए गए हैं : सुख-वेदनीय, दुःखवेदनीय और न-दुःख-सुख-वेदनीय।

पहले प्रकार का कर्म सुख का अनुभव कराता है, दूसरे प्रकार का कर्म दुःख का अनुभव कराता है और तीसरे प्रकार का कर्म न सुख का, न दुःख का अनुभव कराता है।

कुशल, अशुकल और अव्याकृत कर्म के दो-दो भेद हैं : नियत और अनियत।

'नियत' कर्म के तीन प्रकार हैं : दृष्ट धर्म-वेदनीय, उपपद्य वेदनीय और अपर पर्याय वेदनीय।

'अनियत' कर्म के दो प्रकार हैं : विपाक-काल और अनियत विपाक।

'दृष्ट धर्म वेदनीय' कर्म के दो प्रकार हैं : सहसा वेदनीय और असहसा वेदनीय।

'उपपद्य वेदनीय' और 'अपर पर्याय वेदनीय' के चार प्रकार हैं :

१. विपाक-कालनियत विपाकानियत,

२. विपाकनियत विपाककाल अनियत,

३. नियत विपाक नियत वेदनीय,

४. अनियत विपाक अनियत वेदनीय.

'वेदांतसूत्र' में कर्म के दो प्रकार बताए हैं : प्रारब्ध कार्य और अनारब्ध कार्य।

'योगदर्शन' में आत्मा को आवृत करने वाली दो शक्तियाँ बताई गई हैं : माया और अविद्या। ये कर्म के ही दो नाम हैं। नाम भिन्न होने पर तत्त्व का भेद नहीं होता है। पिता कहें या जनक कहें, अथवा 'फादर' कहें-कोई फर्क नहीं पड़ता है।

चेतन, अन्य धर्मों में भिन्न-भिन्न नाम से 'कर्म' तत्त्व को स्वीकार किया गया है। संक्षेप मे यह बात तुझे बताई है। आज इस पत्र में तुझे एक महत्वपूर्ण बात लिखता हूँ। वह बात है पुरुषार्थ की। 'कर्म' की ये सारी बातें पढ़ते पढ़ते तू 'पुरुषार्थ' को भूल न जाय, यह महत्वपूर्ण बात है। 'कर्मसिद्धांत' को समझना है कर्म के बंधन तोड़ने के लिए, नहीं कि निष्क्रिय और निराश बनने के लिए।

हम एक भयंकर कर्म-जाल में फँसे हुए हैं, यह बात जानना है। हम यानी मैं, तू और वह नहीं, अपितु समग्र संसार के अनंत-अनंत जीव। हाँ, कर्मजाल बिना का मुक्त जीवन यदि नहीं होता तो जाल को जाल कहा भी नहीं जाता। मुक्त जीवन है, मुक्त जीवन जीने वाली अनंत, अनंत आत्माएँ भी हैं।

उन्होंने कर्मजाल से मुक्ति पाई, जाल को तोड़ कर वे निकल गए।

चेतन, कभी ललचाई निगाहों से देखा है मुक्त जीवन? कभी कल्पना के पंखों से उड़ान भरी है मुक्तात्माओं की दुनिया में? कभी मन अकुला उठा है इस गहन और विकट कर्मों की जाल में? क्या इतना भी समझ पाया है कि 'मैं अनंत कर्मों की जाल में फँसा हुआ हूँ।' सर्वप्रथम तो यह समझ स्पष्ट हो जानी चाहिए। पर हाँ, इस समझ के आने पर, यदि मनुष्य निराश बन जाय, मायूस बन जाय कि 'हाय, कितनी मज़बूत है यह जाल? मैं कैसे तोड़ सकता हूँ इस जाल को?' इस तरह मनुष्य कर्मजाल में जीना ही पसंद कर ले तो फिर कर्मजाल को तोड़ने का संकल्प नहीं कर सकता, कर्मजाल को तोड़ने का उपाय भी नहीं सोच सकता! वह सोचेगा कर्मजाल में कैसे जमकर रहना! इसी की कल्पनाएँ और इसी की योजनाएँ बनाता रहेगा! 'कर्मजाल को कहाँ से काटना, किस शस्त्र से काटना, कैसे मुक्त बनना... क्या, प्रयत्न-पुरुषार्थ करना...? वगैरह विचार वह नहीं कर पाएगा।

कर्मजाल को तोड़ने के लिए, उस जाल को पहचानना ज़रूरी है। वह जाल किसकी बनी हुई है? किस तरह गुँथी हुई है? कैसे वह गहन बनती चली जाती है? कहाँ से उसे तोड़ा जा सकता है?' यह सब जानना अति आवश्यक है। स्वयं को यदि जानकारी न हो तो जाल में रहे अन्य समझदार और जाल के ज्ञाता लोगों से मार्गदर्शन लेकर पुरुषार्थशील बनना चाहिए। जिस व्यक्ति को अपना घर बनाना होता है, वह अभियंता के पास जा कर उससे विचार-विमर्श करता है न? उस को पैसे देकर प्लान बनवाता है न?

परंतु पहली बात तो यह है कि 'मैं अनंत दोषों की, अनंत कर्मों की जाल में फँसा हुआ हूँ,' यह विचार उसी मनुष्य को आ सकता है जो कि प्रशमभाव में स्थिर हो। उसके अंतरंग दोष-क्रोध-मान-माया-लोभ वगैरह शांत बैठे हों। इंद्रियों की विषयानुकूल दौड़धूप जरा कम हो चुकी हो! निद्रा, आलस्य, विषयभोग और अर्थहीन बातों से मन-वचन-काया के योग, अल्प

समय के लिए भी सुषुप्त बन गए हों! मन प्रशम-रस में निमग्न हो, वाणी मौन हो और शरीर स्थिरता प्राप्त कर चुका हो, तब कहीं उस अदृश्य कर्मजाल की कल्पना आ सकती है।

उस जाल में जैसे स्वयं को देखना है वैसे अनंत-अनंत जीव भी देखने हैं। जाल को तहस-नहस कर, सिद्ध-बुद्ध और मुक्त बनी हुई अनंत आत्माओं की ओर भावविभोर नज़रों से देखना है।

चेतन, तब जाकर मनुष्य कर्मजाल को तोड़ने की और मुक्त बनने की योजना बनाना चालू कर देगा। योजनानुसार कार्य प्रारंभ कर देगा, पुरुषार्थशील बन जाएगा। एक दिन सफलता उसके कदम चूमेगी!

कर्मजाल को तोड़ने के लिए मनुष्य को कैसा पुरुषार्थ करना चाहिए, यह जानने के लिए तू 'प्रशमरति' के श्लोक : ५९ से ६३ का विवेचन पढ़ना। स्वस्थ मन से पढ़ना।

चेतन, आरोग्य, आयुष्य, बल, वीर्य और सानुकूल संयोग हैं तब तक तू कर्मजाल को तोड़ने का धर्मपुरुषार्थ कर सकेगा। अब केवल अतीत की अँधियारी घटनाओं की गलियों में भटकना नहीं है, रुदन करना नहीं है और, भविष्य की सुनहरी कल्पनाओं की मख़मली सेज पर मात्र सोना नहीं है। सदैव जागृत रहना है। अतीत की मनोयात्रा और अनागत की आंतरयात्रा, वर्तमान की क्षणों को पुरुषार्थमय बनाने के लिए ही करनी है।

जब तक शरीर निरोगी है, पाँचों इंद्रियाँ कार्यक्षम हैं और आसपास के संयोग अनुकूल हैं, तब तक कर्मजाल को जान कर, उसको तोड़ने का पुरुषार्थ कर ले। याद रखना कि आरोग्य और आयुष्य, दोनों चंचल हैं।

तेरा आंतर उत्साह बना रहे, वीर्योल्लास बना रहे, हृदय का उल्लास बना रहे और तेरे अध्यवसाय प्रवद्धमान हो... तेरा धर्मपुरुषार्थ प्रगति करता रहे, यही मेरी मनःकामना है। इसी भावना से तेरी समस्याओं का समाधान करने का यह प्रयास कर रहा हूँ। बस, आज तक जो भूमिका तैयार करनी थी, कर ली। अब, एक-एक समस्या को लेकर समाधान करने का प्रारंभ करूँगा।

तू स्वस्थ रहे - यही कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ८

प्रिय चेतन,
धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला। तेरी समस्या पढ़ी।

'मेरे चाचा-चाची के पास लाखों रुपये हैं, परंतु वे इतने कृपण हैं कि सुयोग्य और ज़रूरतमंद व्यक्ति को भी दान नहीं देते हैं। एक रुपया भी नहीं देते हैं। जब कि एक दिन सब कुछ छोड़कर जाना है जीव को!

चेतन, यह तेरे मन की समस्या है... वैसे अनेक व्यक्तिओं के मन की समस्या है। ऐसे कृपण व्यक्ति दुनिया में अनेक होते हैं। वे लोग उनके परिवार में अप्रिय होते हैं। कृपण व्यक्ति लोकप्रिय नहीं बन सकता है।

कृपणता का यह दोष 'दानांतराय कर्म' के उदय से आत्मा में पैदा होता है! आठ कर्मों में एक 'अंतराय कर्म' बताया गया है। अंतराय कर्म के पाँच अवांतर प्रकार बताए गए हैं :

१. दानांतराय

२. लाभांतराय

३. भोगांतराय

४. उपभोगांतराय

५. वीर्यांतराय

चेतन, दान एक प्रकार की लब्धि ही है। उस लब्धि का नाश करता है दानांतराय कर्म। दान देने योग्य वस्तु मनुष्य के पास है, लेनेवाला गुणवान पात्र भी है, दानधर्म का फल भी जानता है वह, फिर भी दानांतराय कर्म, उस मनुष्य को दान नहीं देने देता है।

दानांतराय कर्म से आबद्ध व्यक्ति को मेरे जैसा धर्मगुरु कितना भी उपदेश दे, दानधर्म की महिमा बताए, धन-दौलत की असारता का चोटदार वर्णन करे... फिर भी उसका मन दान देने के लिए उत्साहित नहीं होता है। वह दान नहीं देता है।

चेतन, तेरे चाचा-चाची के प्रति तू नफ़रत नहीं करना, उनके प्रति करुणापूर्ण हृदय से सोचना : 'ये बेचारे दानांतराय कर्म से कैसे बँधे हुए हैं! कैसे टूटेगा उनका यह कर्म?' ऐसे विचार करने से तेरे चाचा-चाची के साथ तू विनय से बात करेगा। उनका तिरस्कार नहीं करेगा, अपमान नहीं करेगा। तू द्वेष-कषाय से बच जाएगा। चूँकि जिसके प्रति अपने हृदय में करुणा पैदा होती है, उसके प्रति द्वेष नहीं होता है।

और जब तू करुणाभरे हृदय से चाचा-चाची के साथ बात करता रहेगा, तब उनके मन की बात... मन की उलझन... तेरे सामने वे प्रगट कर देंगे। वे कहेंगे : 'चेतन, मैं जानता हूँ, हमारे कोई संतान नहीं है... यह लाखों की संपत्ति छोड़कर एक दिन मरना है। परंतु मुझे और तेरी चाची को दान देने की इच्छा ही नहीं होती है। हाँ, दानधर्म की महिमा मैं जानता हूँ। कई दुःखी... दरिद्र लोगों को देखता हूँ तब हृदय में दुःख भी होता है... परंतु उनको एक रुपया भी नहीं दे पाता हूँ। अरे भाई, कोई ज़रूरतमंद व्यक्ति पैसे लेने आता है, कोई वस्तु लेने आता है... आग्रह से माँगतें हैं... तब उसके प्रति क्रोध आ जाता है। मुँह से कटु शब्द निकल जाते हैं... उसका अपमान कर देता हूँ...। ऐसा नहीं होना चाहिए, क्यों होता है - नहीं जानता हूँ।

तब तू उनको प्रेम से 'अंतराय-कर्म' का तत्त्वज्ञान दे सकता है। 'दानांतराय कर्म' की बात समझा सकता है। उनको कहना कि : 'आपकी आत्मा ने किसी जन्म में 'दानांतराय कर्म' बाँधा है। यानी आपने पूर्वजन्म में किसी को दान नहीं देने दिया होगा। किसी की दानधर्म की भावना पर

हिमपात किया होगा। 'दानधर्म' की निंदा की होगी। चाचा, चाची, आपने पूर्वजन्म में, कोई मनुष्य जब साधु-महात्माओं को भिक्षा देता होगा, औषध देता होगा, रहने के लिए अपना मकान देता होगा, पढ़ने के लिए पुस्तक देगा होगा, पहनने के लिए वस्त्र देता होगा, तब उसको रोका होगा। रोकने का प्रयत्न किया होगा। इससे 'दानांतराय कर्म' बंधा है।

वैसे, कोई मनुष्य दीन-अनाथ-अपाहिज़ को दया से प्रेरित होकर दान देता होगा तब आपने उसको रोका होगा। कहा होगा : 'नहीं देना चाहिए दान... दान देने से ऐसे लोग आलसी-प्रमादी बन जाते हैं। कोई उद्योग नहीं करते हैं...' वगैरह। इससे दानांतराय कर्म बंधा है। इस जन्म में वह कर्म उदय में आया है!'

चेतन, कोई भी कर्म बाँधने के बाद तूर्त ही उदय में नहीं आता है। कर्म बाँधने के बाद, कर्म कुछ वर्ष शांत पड़ा रहता है। इसको 'अबाधाकाल' कहते हैं। 'अबाधाकाल' हर कर्म का अलग-अलग होता है। 'अबाधाकाल' पूर्ण होने पर कर्म उदय में आता है, यानी अपना प्रभाव बताता है। अपना फल देता है। जैसे, वृक्ष बोने के बाद तूर्त फल नहीं देता है। कुछ समय, कुछ वर्ष, बीतने के बाद वह फल देता है।

श्रमण भगवान महावीर स्वामी की आत्मा ने मरिची के भव में जब इस भारत में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव विचरते थे, अपने कुल का गर्व कर के 'नीच गोत्र कर्म' बाँधा था, वह कर्म उदय में आया भगवान महावीर के अंतिम भव में! बीच में असंख्य वर्ष वह कर्म शांत पड़ा रहा! उतना असंख्य वर्षों का 'अबाधाकाल' भी हो सकता है।

चेतन, 'अबाधाकाल' की प्रासंगिक बात बता दी। प्रस्तुत है दानांतराय कर्म की बात।

संभव है, तेरे मन में प्रश्न पैदा हो कि 'दानांतराय कर्म के उदय से मनुष्य दान नहीं दे सकता है, इससे नुकसान क्या होता है मनुष्य को? उसके तो रुपये बचते हैं! लाभ होता है न?

अज्ञान दृष्टि से लाभ दिखता है, तात्त्विक ज्ञानदृष्टि से नुकसान होता

है। दानधर्म नहीं करने से वह पुण्योपार्जन नहीं कर सकता है। यानी दान देने से जो पुण्य कर्म का उपार्जन होता है, वह नहीं कर पाता है। दूसरा नुकसान होता है गाढ़ आसक्ति का। धन-दौलत पर उस मनुष्य की आसक्ति ज्यादा होती है। आसक्ति जीव का पतन करती है। तू तेरे चाचा-चाची को पूछना, उनको अपनी संपत्ति के ऊपर ममत्व और आसक्ति है या नहीं।

अलबत्ता, 'आसक्ति' राग है, 'ममत्व' राग है और राग 'मोहनीय कर्म' का प्रकार है, परंतु एक कर्म के साथ दूसरे अनेक कर्म जुड़े हुए होते हैं। यह राग, संपत्ति का प्रगाढ़ राग, जीव को दुर्गति में ले जाता है। बेचारा मम्मण सेठ इसलिए तो नरक में गया!

ये सारे नुकसान हैं दानांतराय कर्म के। क्या कम नुकसान हैं ये? दान नहीं देने से जो रुपये बचते हैं, वे रुपये उसके क्या काम आते हैं? मात्र संग्रह! अथवा रंग-राग और भोगविलास! स्वयं के भोगोपभोग के अलावा क्या करता है वह रुपयों का उपयोग? परिणाम पापकर्मों का उपार्जन!

चेतन, यह दानांतराय कर्म का 'लाभांतराय कर्म' के साथ अच्छा संबंध है! 'लाभांतराय कर्म' दानप्राप्ति में विघ्न डालता है।

सामने दानवीर व्यक्ति हो, देने योग्य वस्तु हो, माँगनेवाला मनुष्य यांचाकुशल हो यानी माँगने की कला हो उसके पास, फिर भी उसको दान नहीं मिलेगा... यदि उसका 'लाभांतराय' कर्म उदय में होगा तो!

सामने जो दानवीर व्यक्ति है, उसको 'दानांतराय कर्म' उदय में नहीं है, वह दान देता रहता है सभी लोगों को, जो उनसे माँगने जाते हैं। परंतु मान ले, तू ही उसके पास दान लेने गया। वह दान नहीं देता है, मना कर देता है। तू अच्छे ढंग से माँगता है, चापलूसी करता है, फिर भी वह नहीं देता है, तो समझना कि तेरा 'लाभांतराय कर्म' उदय में है। यह ज्ञान तेरे पास होगा तो तू दानवीर पुरुष के प्रति द्वेष नहीं करेगा! 'देखा उस दानवीर को, अपने आप को बड़ा दानवीर कहलाता है... एक पैसा नहीं दिया मुझे... कीर्ति का भूखा है... नाम का भूखा है...।' इस प्रकार उस व्यक्ति के प्रति आक्रोश नहीं करेगा।

तू सोचेगा : 'वह दानवीर ही है, सब को दान देता है, मुझे नही देता

है...। क्यों? यदि उसका दानांतराय कर्म उदय में होता तो वह किसी को दान नहीं दे सकता था! उसका मेरे प्रति कोई द्वेष नहीं है, शत्रुता नहीं है... दूसरा कोई कारण नहीं है... मेरा है, 'लाभांतराय कर्म' मेरा शत्रु बना हुआ है।'

'वह दानवीर है फिर भी मुझे... क्यों नहीं देता है?' यह प्रश्न मन में उठता है न? उसका समाधान हो गया न? तेरे लाभांतराय कर्म का प्रभाव दूसरे दानवीर व्यक्ति पर गिरता है! तेरे व्यक्तिगत मामले में उसका 'दानांतराय कर्म' उदय में आ जाता है! तुझे वह दान देना नहीं चाहेगा!

एक भाई ने मुझे कहा : 'जिस कृपण से, लोभी से कोई रुपया नहीं ले सकता है, मैं उसके पास गया और मंदिर के लिए हजार रुपये ले आया!'

ऐसा कैसे बना? उस भाई की 'लाभ-लब्धि' इतनी प्रबल थी कि उसके सामने उस कृपण-लोभी का 'दानांतराय कर्म' टिक नहीं सका! उसने मार्ग दे दिया दान को। रुकावट नहीं कर सका। 'लाभ' की लब्धि प्रबल होती है, तीव्र होती है, तो उसके सामने दानांतराय कर्म की चलती नहीं है।

यदि तुझे दानधर्म की आराधना करना है तो यह नहीं सोचना कि 'मेरा दानांतराय कर्म' मुझे दानधर्म करने से रोकता है।' तुझे यह सोचना चाहिए कि : 'मुझे कृपण नहीं बनना है, लोभी नहीं बनना है, यदि मेरी संपत्ति का दान नहीं दूँगा तो यह संपत्ति मुझे विपत्ति में डाल देगी, मेरी धन की आसक्ति, मुझे दुःखी करेगी।' यदि तू तेरे लिए 'दानांतराय कर्म' के अवरोध करेगा तो ठगा जाएगा! तेरा मन दानधर्म के लिए तत्पर नहीं बनेगा।

चेतन, 'लाभांतराय कर्म' के विषय में विशेष बातें आगे के पत्र में लिखूँगा। बहुत से लोगों के लिए यह कर्म 'समस्या' बना हुआ है। इसलिए समाधान अनिवार्य है।

तू स्वस्थ रहे, यही कामना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ९

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

तेरी समस्या इस प्रकार है :

'मेरा एक मित्र पैसा कमाने का भरसक प्रयत्न करता है, फिर भी वह सफल नहीं हो पाता है... जब कि वह पढ़ा-लिखा है और बुद्धिमान है, ऐसा क्यों होता है?'

चेतन, यह समस्या अनेक... लाखों-करोड़ों की है। पुरुषार्थ करने पर भी इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। मनुष्य निराश हो जाता है और कुछ लोग तो आत्महत्या भी कर डालते हैं। कुछ लोग परिवार के प्रति, कुछ लोग समाज व्यवस्था के प्रति और कुछ लोग राज्यतंत्र के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हैं। अर्थहीन क्रोध करते हैं। श्रीमंत-धनवानों के प्रति द्वेष और धिक्कार की दुर्भावना अभिव्यक्त करते हैं।

चूँकि वे लोग अप्राप्ति-अलाभ का वास्तविक कारण नहीं जानते हैं। किसी भी बात का वास्तविक कारण जानने पर क्रोध और आक्रोश उठता ही नहीं है। मनोवांछित की अप्राप्ति का मूल कारण है लाभांतराय कर्म। यह कारण अदृश्य है। इस कारण को देख नहीं सकते है... सूँघ नहीं सकते हैं... चख नहीं सकते हैं। इस कारण को ज्ञानी ही जान सकते हैं।

अज्ञानदशा में जीव 'लाभांतराय कर्म' बाँधता रहता है! एक बार नहीं, अनेक बार! जब वह कर्म उदय में आता है, तब इच्छित-प्राप्ति के सभी द्वार बंद हो जाते हैं। इच्छित... प्रिय वस्तु की अप्राप्ति से मनुष्य अशांत, संतप्त और उद्विग्न बनता है।

पुरुषार्थ को, महान पुरुषार्थ को भी यह 'लाभांतराय कर्म' निष्फल कर देता है।

चेतन, तू शायद नहीं जानता है कि यह 'लाभांतराय कर्म' जीव कैसे बाँधता है। बताता हूँ, इस कर्मबंध के कुछ कारण। जानकर, वैसे कार्य नहीं करने का संकल्प करना होगा।

- दूसरों की इच्छित प्राप्ति में विघ्न डालने से, रुकावटें करने से यह कर्म बँधता है।

- कोई व्यक्ति को व्यापार में अर्थ प्राप्ति होने जा रही है, तुझे मालूम हुआ। ईर्ष्या पैदा हुई। 'नहीं, मैं उसको अर्थप्राप्ति-धनप्राप्ति नहीं होने दूँगा।' ऐसा सोचकर तूने उस व्यक्ति के मार्ग में विघ्न डाल दिया। उसको अर्थप्राप्ति नहीं होने दी, अथवा बहुत परेशानी के बाद प्राप्त हुई। तूने लाभांतराय कर्म बाँध लिया।

- तेरे व्यापार में एक साझेदार-पार्टनर है। सरल है। तेरे पर विश्वास करता है। तू भी उसके साथ अच्छा व्यवहार करता है। व्यापार में तेरी कंपनी ने दस लाख कमाए हैं। तेरे पार्टनर को पाँच लाख, उसके हिस्से के मिलने चाहिए। उस समय तू तेरे पार्टनर को जैसे-तैसे समझाकर उसको दो-तीन लाख रुपये ही देता है। झूठ बोलकर उसको पटा लेता है...। चेतन, तू लाभांतराय कर्म बाँधता है! साथ-साथ दूसरे भी पाप कर्म बाँधता है।

- मान ले कि तुझे परमात्मा के मंदिर जाना, दर्शन-पूजन करना पसंद नहीं है... तू नहीं जाता है मंदिर में। परंतु जो जाते हैं उनको भी तू रोकता है। दर्शन-पूजन में अंतराय करता है, नहीं करने देता है परमात्मा के दर्शन-पूजन, तो तू अंतराय कर्म बाँधता है, लाभांतराय कर्म बाँधता है।

- मान ले कि तुझे किसी कारण से या निष्कारण कोई साधु-मुनिराज के प्रति दुर्भाव जगा, तू उनको भिक्षा नहीं देता है, दूसरों को भी कहता है : 'उस मुनिराज को भिक्षा नहीं देना,' दूसरों को भिक्षा देने से रोकता है। मुनिराज की भिक्षा-प्राप्ति में अंतराय-विघ्न डालता है, तो तू लाभांतराय कर्म बाँधता है।

उस 'संगम' देव ने भगवान महावीर स्वामी को छः महीने तक भिक्षा नहीं लेने दी थी न? जहाँ-जहाँ भगवान भिक्षा लेने जाते, संगम भिक्षा को दूषित कर देता था, भगवान को भिक्षा नहीं मिलती थी। भगवान के सत्त्व को विचलित करने चला था! मनोबल को तोड़ने आया था वह स्वर्गलोक से! विचलित नहीं कर सका, मनोबल नहीं तोड़ सका! वैसे ही 'लाभांतराय कर्म' बाँधकर चला गया।

- तेरे कोई परिचित व्यक्ति ने कोई व्यापार किया है। तुझे मालूम हुआ कि इस व्यापार में वह लाख-पाँच लाख... कमानेवाला है। तेरे मन में पाप आया - 'नहीं, मैं उसको कमाने नहीं दूँगा।' तूने जाकर सरकार में सूचना दे दी। उस व्यक्ति की नाव किनारे पर डूब जाती है। तू 'लाभांतराय कर्म' बाँध लेता है।

- एक पिता अपने एक बेटे को सौ रुपये देता है। दूसरा लड़का पिता को बहकाता है : 'पिताजी, भैय्या को रुपये मत देना। वह जुआ खेलता है... होटल में जाता है... पैसे उड़ाता है...।' भाई के ऊपर ग़लत आरोप मढ़ता है, उसको पैसे प्राप्त नहीं होने देता है। लाभांतराय कर्म बंध जाता है। दूसरे भी पाप कर्म बांध लेता है।

- एक लड़का पढ़ने में होशियार है। अध्यापक उसको अच्छा ज्ञान देते हैं। दूसरे लड़के को ईर्ष्या होती है। वह अध्यापकों को समझाता है : 'वह लड़का ऐसे-ऐसे बुरे काम करता है... लड़का अच्छा नहीं है...।' अध्यापक उस लड़के को नहीं पढ़ाते हैं...। ज्ञानप्राप्ति में विघ्न डाला...। लाभांतराय कर्म बाँध लिया।

- कुछ माता-पिता अपने पुत्र-पुत्री को दीक्षा नहीं लेने देते हैं। चारित्रधर्म का स्वीकार नहीं करने देते हैं। पुत्र-पुत्री सुयोग्य होने पर भी रोकते हैं। वे भी 'लाभांतराय कर्म' बाँधते हैं।

चेतन, 'लाभांतराय कर्म' इस प्रकार बँधता है।

एक दूसरी बात समझ लेना।

जिस व्यक्ति के धनलाभ में, प्रिय की प्राप्ति में अंतराय आता है, विघ्न

आता है, उसका भी 'लाभांतराय कर्म' ही कारण होता है। तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति के लाभांतराय का उदय, दूसरे व्यक्ति के लाभांतराय कर्म के बंधन में निमित्त बनता है! तेरा लाभांतराय कर्म उदय में आएगा तब दूसरा व्यक्ति तेरे निमित्त नया लाभांतराय कर्म बाँधेगा।

तुझे मालूम हो जाय कि 'यह व्यक्ति हमेशा मुझे व्यापार में परेशान करता है, मुझे कमाने नहीं देता है। किसी न किसी

प्रकार से मुझे पैसे कमाने नहीं देता है।' उस समय उस व्यक्ति पर द्वेष नहीं करना। सोचना कि : 'मेरा लाभांतराय कर्म उदय में आया है, इसलिए मुझे अर्थ लाभ नहीं हो रहा है। वह बेचारा तो निमित्त मात्र है। मेरे मार्ग में विघ्न डाल कर, वह स्वयं 'लाभांतराय कर्म' बाँध रहा है।'

चेतन, 'लाभांतराय' बाँधने का एक प्रबल हेतु बताया गया है - व्यापार में अनीति, बेईमानी और अप्रमाणिकता। अब तू सोचना कि आज दुनिया में व्यापार की क्या स्थिति है? व्यापार में अनीति और बेईमानी कितनी व्यापक हो गई है? अनीति करनेवाले लाभांतराय कर्म बाँधते हैं, बेईमानी और मिलावट करनेवाले लाभांतराय कर्म बाँधते हैं।

इस जन्म में 'लाभांतराय कर्म' का उदय नहीं होता है तो मनुष्य को अनीति-बेईमानी करने पर (पुण्य कर्म के उदय से) पैसे मिल जाते हैं, परंतु साथ-साथ 'लाभांतराय कर्म' भी बंध जाता है। जब वह कर्म उदय में आएगा, अपना प्रभाव बताएगा.. तब ग़रीबी गला घोंट डालेगी। लाख उपाय करने पर भी अर्थप्राप्ति नहीं होगी। अरे, भिखारी बन कर, द्वार-द्वार पर भटकने पर भी भिक्षा नहीं मिलेगी!

चेतन, अल्प बुद्धिवाला मनुष्य अपने भविष्य के सुख-दुःख का विचार नहीं कर सकता है। इस जीवन का ही विचार करता है। वह सही विचार भी नहीं कर पाता है। अज्ञानता के अंधकार में भटक जाता है।

धंधे में न्याय-नीति और ईमानदारी से व्यवहार करनेवाला मनुष्य यदि उसका पूर्वजन्म में उपार्जित 'लाभांतराय कर्म' उदय में होगा तो इस जनम में भले ही वह कम धनप्राप्ति करेगा, परंतु वह नया लाभांतराय कर्म नहीं बाँधेगा। परिणाम स्वरूप आनेवाले जन्म में वह कुबेर का भंडार प्राप्त कर

सकेगा। अल्प प्रयत्न से विपुल संपत्ति प्राप्त कर सकेगा। उसके धनप्राप्ति के मार्ग में कोई विघ्न नहीं आएगा।

ऐसे पुण्यशाली पुरुषों को मैं जानता हूँ... वे किसी भी बाज़ार में जाकर धंधा करते हैं... लाखों रुपये कमाते हैं! धन आता ही जाता है! वे शेर बाज़ार में कमाते हैं, सोना-चांदी में कमाते हैं, कपड़े में कमाते हैं और हल्दी में भी कमाते हैं! चूँकि अर्थप्राप्ति में रुकावटें करनेवाला 'लाभांतराय कर्म' उदय में नहीं है उनको। परंतु यदि वे लोग, विपुल धनराशि प्राप्ति होने पर, उस धन राशि का दुरुपयोग करते हैं, तो 'लाभांतराय' वगैरह पाप कर्म बाँध लेते हैं। उसका परिणाम गरीबी और बेकारी! निर्धनता और दरिद्रता।

चेतन, तेरे उस मित्र को कहना कि : 'धनप्राप्ति के पुरुषार्थ में तुझे कामयाबी नहीं मिल रही है, उसका सही कारण 'लाभांतराय कर्म' है। दूसरे तो निमित्त कारण होते है।' 'लाभांतराय' को तोड़ने का धर्मपुरुषार्थ कर ले। धर्मपुरुषार्थ से ही वह कर्म टूटेगा।

उसको जब अनुकूलता हो तब मेरे पास लाना। मैं उसको धर्मपुरुषार्थ के विषय में मार्गदर्शन दूँगा। जब तक वह मेरे पास नहीं आता है, उसको परमात्मा की भक्ति में जोड़ देना। धन कमाने के ग़लत रास्ते को छोड़ने के लिए प्रेरणा देना। अब वह कोई भी ग़लत रास्त नहीं ले पैसे कमाने के लिए।

इस पत्र से तुझे समाधान मिलेगा, ऐसी मेरी धारणा है।

'लाभांतराय कर्म टूटने पर, 'दानांतराय' कर्म भी टूटना चाहिए। विपुल धन संपत्ति प्राप्त होने पर, यदि दानधर्म की भावना प्रबल हो जाती है तो दुनिया को अनेक जगडूशाह, भामाशाह और आभू संघवी मिल सकते हैं। 'लाभान्तर' टूट जाय, परंतु 'दानांतराय' नहीं टूटता है तो मम्मण सेठ पैदा हो जाते हैं!

पत्र पूर्ण करता हूँ।

स्वस्थ रहे - यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : १०

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

'पुरुषार्थ करने पर भी इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती है, तब दूसरे जीवों को कारण नहीं मानना, उनके प्रति द्वेष नहीं करना, परंतु अपने ही लाभांतराय कर्म को कारण मान कर, उस कर्म को तोड़ने का पुरुषार्थ करना।' यह बात तुझे जच गई, तेरे मन का समाधान हुआ... तेरे मित्र को भी नई दृष्टि प्राप्त हुई... यह सब जानकर मुझे आनंद हुआ है।

चेतन, जिन लोगों को, इस तरह का कर्मसिद्धांत का ज्ञान नहीं होता है, वे लोग दूसरे जीवों पर किस-किस तरह के आरोप मढ़ते हैं और द्वेषजाल में फँसते हैं, इसके कुछ दृष्टांत बताता हूँ।

- 'जब से घर में इस लड़की का जन्म हुआ है तब से धंधे में नुकसान ही हो रहा है... एक पैसा भी कमाया नहीं है...।' लड़की के प्रति रोष, उसके साथ रूक्ष व्यवहार और तिरस्कार।

- 'जब से यह लड़के की बहु घर में आई है, तब से किसी व्यापार में कामयाबी नहीं मिल रही है। एक नया पैसा भी प्राप्त नहीं हुआ है।' पुत्रवधू के प्रति दुर्भाव, द्वेष और अनादर।

- मेरा बड़ा भाई कितना कृपण है? लाखों रुपये हैं उसके पास, मैंने कितनी बार पैसे माँगे? पचास/ सौ रुपये भी नहीं देता है। क्या करेगा लाखों

रुपयों का? महान कंजूस है... मरकर नरक में जाएगा।' भाई के प्रति वैरभावना, वैमनस्य और तिरस्कार।

इस प्रकार नहीं सोचना चाहिए। ऐसे विचार करने से अनेक प्रगाढ़ पाप कर्म बँधते हैं और वे कर्म जीव को दुर्गति में ले जाते हैं।

राजगृही के भिखारी का दृष्टांत, पंडित श्री वीरविजयजी ने अंतराय कर्म निवारण की पूजा में दिया है। घर-घर वह भिखारी भिक्षा माँगने जाता है, परंतु उसको कोई भी स्त्री-पुरुष भिक्षा नहीं देते हैं। तीन दिन तक भिक्षा के लिए भटकने पर भी उसको भिक्षा नहीं मिलती है, वह राजगृही के गृहस्थों पर रोष करता है - 'इस नगर के लोग निकम्मे हैं... लोभी हैं... दुष्ट हैं... कोई मुझे भिक्षा नहीं देता है...'

चौथे दिन वसंत-उत्सव था। नगर के हज़ारों स्त्री-पुरुष नगर के बाहर उद्यानों में गए। वहाँ ही खाना-पीना और खेलना होता था।

भिखारी भी उद्यान में पहुँचा। 'आज उत्सव है, उत्सव के दिनों में लोग उदार बनते हैं, मुझे यहाँ भिक्षा अवश्य मिलेगी।' परंतु नहीं मिली भिक्षा। भिखारी अत्यंत क्रोधित हो गया। 'ये सभी लोग दुष्ट हैं... मुझे भिक्षा नहीं देते... मैं इन सभी लोगों को मार डालूँगा।'

उद्यान, पहाड़ की तलहटी में आया हुआ था। पहाड़ पर एक बड़ी चट्टान थी, भिखारी ने सोचा - 'उस चट्टान को धक्का देकर गिरा दूँ... ये लोग कुचल जाएँगे.. मर जाएँगे।' वह पहाड़ पर चढ़ा और चट्टान को गिराने का प्रयत्न करने लगा... उसके पैर लड़खड़ाये और गिर पड़ा... वह चट्टान लुढ़क कर उसी भिखारी पर गिरी... भिखारी मरा और सातवीं नरक में पैदा हुआ।

दूसरों को मारने की दुर्भावना में मनुष्य मरता है, वह नरक में जन्मता है। नरक में कम से कम १० हजार वर्ष का आयुष्य होता है जीव का। ज्यादा से ज्यादा ३३ 'सागरोपम' वर्षों का आयुष्य होता है, यानी असंख्य वर्ष।

उस भिखारी का दुर्भाग्य था कि उसको कोई समझाने वाला नहीं मिला

कि - 'तुझे भिक्षा नहीं मिल रही है, तेरे ही 'लाभांतराय कर्म' की वजह से। राजगृही के लोग ख़राब नहीं है, दूसरे भिखारियों को वे भिक्षा देते हैं न? यदि लोग दुष्ट होते तो किसी भी भिक्षुक को वे भिक्षा नहीं देते। इसलिए लोगों के प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए।'

- तत्त्वज्ञान देनेवाले सत्यपुरुष का समागम भी पुण्य कर्म के उदय से ही होता है। तत्त्वज्ञान से ही जीव के प्रबल राग-द्वेष कम होते हैं, जीव को शांति मिलती है।

चेतन, प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की जीवनी तू जानता है? जब वे संसारवास का त्याग कर अणगार बने, वे भिक्षा लेने के लिए घर-घर फिरने लगे, उनको कोई भिक्षा नहीं देता है! लोग सोना और चाँदी देने को तैयार हैं, हीरा और मोती देने को तत्पर हैं... परंतु भोजन कोई नहीं देता है। एक वर्ष से भी ज्यादा समय बीत जाता है। अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ला-३) के दिन उनको भिक्षा मिलती है। वे महाज्ञानी पुरुष थे। एक वर्ष से भी ज्यादा समय तक भिक्षा नहीं देनेवाले हस्तिनापुर के लोगों के प्रति उनको द्वेष नहीं हुआ, दुर्भाव नहीं हुआ। भिक्षा के अप्राप्ति का सही कारण वे जानते थे। 'मेरे ही 'लाभांतराय कर्म' की वजह से मुझे भिक्षा नहीं मिल रही है। जब 'लाभांतराय कर्म' नष्ट होगा तब सहजता से भिक्षा मिल जाएगी।'

भगवान ऋषभदेव की आत्मा ने पूर्वजन्म में, पशुओं के भोजन में अंतराय किया था। बैल घास खाते थे, किसान को बोलकर उन पशुओं के मुँह बंद करवाए थे। इससे उन्होंने 'लाभांतराय कर्म' बाँधा था। परिणामस्वरुप ऋषभदेव के जन्म में कुछ समय भोजन मिला नहीं... भूखा रहना पड़ा। समताभाव से भूखे रहे, इसलिए वह तपश्चर्या बन गई! 'वरसीतप' कहा

गया।

चेतन, किसी भी जीव को सुख मिलता हो, सुख प्राप्ति होती हो, उस में रुकावट नहीं करना। यदि तेरे पास सुख के साधन हों तो दूसरों को देना। सुख देने से सुख की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार पृथ्वी को थोड़े धान्य-कण देने से, पृथ्वी असंख्य धान्य-कण देती है, वैसे जीव दूसरों को थोड़ा भी सुख देता है, तो उसको विपुल सुख प्राप्त होता है।

शालिभद्र को दिव्य सुखों का लाभ कैसे हुआ था, तू जानता है न?

भगवान महावीर स्वामी के समय में राजगृही में शालिभद्र का जन्म हुआ था। श्रीमंत घर में जन्म हुआ था। उसके पिता गोभद्र श्रेष्ठि मर कर देवलोक में देव बने थे। पुत्र स्नेह से प्रेरित हो, वे प्रतिदिन दिव्य भोजन, दिव्य वस्त्र और दिव्य अलंकारों से भरी हुई ९९ पेटियाँ पुत्र के लिए भेजा करते थे! पृथ्वी पर रहा हुआ शालिभद्र देवलोक के सुख पाता था।

चूँकि, पूर्वजन्म में उसने एक मुनिराज को भाव से भिक्षा दी थी! पूर्व जन्म में शालिभद्र का जीव एक ग्वाले का छोटा लड़का था। ग़रीब था। पिता की मृत्यु हो गई थी। माँ और बेटा, दो ही थे। एक दिन लड़के ने रो-रो कर खीर का भोजन पाया था। परंतु उसने खीर खाई नहीं थी... मुनिराज को दे दी थी! उल्लसित भाव से दी थी। उसने इस दानधर्म से अपनी आत्मा में 'लाभ' के बीज बो दिए थे। अल्प समय में ही वे सुखलाभ के बीज अंकुरित बने थे, वृक्ष में परिणत बने थे और दिव्य सुख के फल देने लगे थे। चूँकि जिस दिन उसने मुनिराज को भिक्षा दी थी, उसी दिन रात्रि में उसकी मृत्यु हो गई थी। और राजगृही में गोभद्र श्रेष्ठि के घर में उसका जन्म हुआ था। भवपरिवर्तन के साथ ही पुण्य कर्म का उदय हुआ था!

चेतन, छल-कपट और अनीति-अन्याय कर पैसे कमाने की प्रवृत्ति दुःखदायिनी है। दूसरों को लूटकर श्रीमंत बनने की प्रवृत्ति घोर दरिद्रता को निमंत्रण है। जब यह यौवन समाप्त होगा, दूसरा जन्म फ़ुटपाथ पर सोनेवाली भिखारिन के पेट होगा। जन्म से ही भिखारी बनेगा और अपने ही पूर्वजन्म के बंगले के द्वार पर भिक्षा माँगता खड़ा रहेगा...।

चेतन, जागृत रह कर जीवन यात्रा करना। कदम-कदम सावधान रहना है। एक महत्त्वपूर्ण सावधानी बताता हूँ। दान देने के बाद 'मैं दान नहीं देता तो अच्छा होता... हाय... मैंने बड़ी गलती कर दी दान देकर...' ऐसे विचार नहीं करना। ऐसे विचार करने से 'दानांतराय कर्म' तो बँधता ही है, साथ-साथ 'भोगांतराय' और 'उप भोगांतराय' कर्म भी बँधता है। ये कर्म जब उदय में आते हैं तब जीवन को तबाह कर देते हैं। जीवन में न दान, न भोग, न उपभोग होता है। न सुख देने का, न सुख भोगने का, न सुख से जीने का।

दुनिया में ऐसे अनेक लोग होते हैं न? पास में लाखों-करोड़ों रुपये होने पर भी वे एक पैसे का दान नहीं देते हैं। पेट भर भोजन नहीं कर पाते हैं, अच्छा भोजन भाता नहीं है... अच्छे वस्त्र पहन नहीं सकते, अच्छे मकान में रह नहीं सकते, अच्छे अलंकार धारण नहीं कर सकते... जीवन भर मज़दूरी करते रहते हैं।

इसका कारण होता है दानांतराय कर्म, भोगांत राय कर्म और उप-भोगांतराय कर्म। वे कर्म बँधते हैं दूसरे जीवों को दानधर्म नहीं करने देने से, दूसरे जीवों के भोग-उपभोग में अंतराय करने से, विक्षेप करने से और दान देने के बाद पश्चात्ताप करने से। दान धर्म करने से सुख के साधन-धन-दौलत तो मिलती है, परंतु दान देने के बाद पश्चात्ताप करने से दानांतराय, भोगांतराय और उपभोगांतराय कर्म बँधते हैं।

- 'व्याख्यान सुनने गया, वहाँ मुनिराज ने जिनमंदिर के निर्माण का उपदेश दिया, मैं बहकावे में आ गया, पाँच हजार का दान लिखा दिया... क्या करूँ? नहीं देने चाहिए थे पाँच हजार रुपये। जा कर मना कर दूँ? पाँच हजार में तो सिंगापुर की 'टूर' हो जाती...।'

- 'मैंने भावावेश में बहकर सभी प्रकार की मिठाई साधु-साध्वी को दे दी...। कैसा मूर्ख हूँ मैं? मेरे लिए और परिवार के लिए मुझे मिठाई रखनी चाहिए थी... क्या करूँ? अब कभी भी इस प्रकार भिक्षा नहीं दूँगा।'

- 'मैंने इतना सारा दान दिया... परंतु समाज को मेरी कद्र ही नहीं है, मुझे अभिनंदन भी नहीं दिए.. ख़ैर, अब मैं एक पैसे का भी दान नहीं दूँगा...।'

इस प्रकार के विचार कभी नहीं करना। दान देने के बाद अनुमोदन करना।

आज बस, यहाँ ही पत्र समाप्त करता हूँ।

स्वस्थ रहे - यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ११

प्रिय चेतन,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

तेरा प्रश्न है - 'मेरी श्रीमंत मामी के पास लाखों रुपये हैं, अच्छा बंगला है, गाड़ी है... फिर भी वह अपनी इच्छा के अनुसार इच्छा भोजन नहीं कर सकती है...! ऐसा क्यों होता है?'

चेतन, 'भोगांत राय' नाम का कर्म, तेरी मामी को बढ़िया भोजन नहीं करने देता है। 'भोग' की परिभाषा करते हुए पंडितप्रवर वीरविजयजी ने कहा है :

'एकवार जे भोगमां आवे वस्तु अनेक,

अशन-पान-विलेपन, भोग कहे जिन छेक।।'

एक बार जिस वस्तु का भोग करने के बाद दूसरी बार जिसका भोग नहीं हो सकता है वैसी भोजन-विलेपन-पानी जैसी वस्तुएं 'भोग' कही जाती हैं।

- जितने प्रणाम में 'लाभांतराय कर्म' टूटता है उतने प्रमाण में जीव को धन-संपत्ति मिलती है, भोग्य और उपभोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं।

- जितने प्रणाम में भोगांतराय कर्म टूटता है उतने प्रमाण में ही मनुष्य भोग्य वस्तुओं का भोग कर सकता है। भोग्य पदार्थ कितने भी हों मनुष्य के पास, वह सभी पदार्थों को भोग नहीं सकता है। खाने-पीने में मनुष्य स्वतंत्र नहीं है, 'भोगांतराय कर्म' नियामक होता है। कोई भी कारण उसे इच्छानुसार

खाने-पीने नहीं देता है।

- चेतन, अभी दो दिन पहले ही मैंने सुना कि मेरे एक परिचित श्रीमंत गृहस्थ की मृत्यु हो गई। मैं उसको जानता था। बड़ा सुशोभित बंगला था उसका। सुंदर वस्त्र पहनता था वह। परंतु मनपसंद मिठाई वह नहीं खा सकता था। मनपसंद पेय नहीं पी सकता था। चूँकि वह रोगी था! 'डायाबीटीस' नाम का रोग था!

- एक धनपति को श्रेष्ठ-उत्तम भोजन के प्रति अरुचि हो गई है! न वह मिठाई खाता है, न वह घी, दूध और मावा खाता है, न वह बादाम - काजू जैसा मेवा खा सकता है, न अच्छे फल खा सकता है। ऐसी उत्तम खाद्य वस्तुओं को देखता है... और वमन होने लगता है! यह काम है भोगांतराय कर्म का! इच्छा हो या मत हो, जीव को वह उत्तम भोग नहीं भोगने देता है! पास में असंख्य प्रकार की भोग्य सामग्री होने पर भी जीव भोग नहीं सकता है!

- एक श्रीमंत व्यक्ति जेल में गया था! आज़ादी के आंदोलन में वह पकड़ा गया था। जेल में क़ैदी को मनपसंद भोजन नहीं मिलता है। उस श्रीमंत ने मुझे कहा कि 'हमें जेल का ही भोजन मिलता था और खाना पड़ता था! परवश-पराधीन थे वहाँ! इच्छा नहीं होती थी वह भोजन खाने की, परंतु भूख लगती थी... खाना पड़ता था!' 'भोगांतराय कर्म' था उदय में वहाँ।

- चेतन, कभी-कभी तेरे सामने तेरा मनपसंद भोजन पड़ा होगा, परंतु तू कोई बड़ी चिंता से व्यग्र होगा... तो एक-दो कवल खाये-न खाये और हाथ धोकर तू खड़ा हो गया होगा!

- अथवा श्रेष्ठ भोजन तेरे सामने होगा, तू खाने के लिए बैठा ही होगा... वहाँ किसी स्वजन ने तेरे साथ झगड़ा कर दिया होगा और तू भोजन किए बिना दुकान चला गया होगा! 'भोगांतराय कर्म' ने तुझे भोजन नहीं करने दिया!

- कभी ऐसा अनुभव भी हुआ होगा कि तेरे लिए तेरा मनपसंद भोजन घर में बनाया गया होगा और तू घर पहुँचे, उसके पूर्व वह भोजन किसी अतिथि को, किसी अभ्यागत को खिला दिया गया हो! तुझे हमेशा की तरह

दाल-रोटी और सब्जी-चावल का ही भोजन करना पड़ा हो। 'भोगांतराय कर्म' की वजह से ऐसा होता है। तूने क्रोध किया होगा पत्नी के ऊपर! अथवा माता के ऊपर..। जिसने तेरे लिए बनाया हुआ भोजन दूसरे को खिला दिया होगा, उसके ऊपर क्रोध किया होगा! अब, ऐसे प्रसंग में दूसरों पर क्रोध मत करना। सोचना कि : 'मेरी आत्मा के साथ बँधे हुए 'भोगांतराय कर्म' की वजह से ही ऐसी बात बनी है, न माता का दोष है, न पत्नी का।'

जो मनुष्य यह कर्मसिद्धांत नहीं जानता है वह ऐसी बातों में बड़ा झगड़ा कर देता है। एक परिचित श्रावक की बात बताता हूँ। उसने ही मुझे कहा था। एक दिन वह दोपहर तीन बजे चाय पीने घर पर गया। हमेशा तीन बजे उसके लिए उसकी मनपसंद चाय तैयार रहती थी, उस दिन उसकी पत्नी ने कहा : 'थोड़ी देर बैठो... चाय फिर से बनानी पड़ेगी।' उसने पूछा : 'क्यों?' पत्नी ने कहा : 'अभी मेरा भाई आया था, उसको चाय पिला दी है।' बस, पत्नी का इतना बोलना था और पति ने कप का घाव कर दिया पत्नी के मुँह पर से खून बहने लगा। पति गालियाँ बकने लगा...। वातावरण अत्यंत

गंभीर हो गया। आसपास रहनेवाले लोग आ गए। स्त्री के मुँह पर दवाई लगा दी, पट्टी बाँध दी...।

गृहस्थ के जीवन में ऐसी घटनाएँ बनती रहती हैं। चूँकि ज्यादातर लोगों को कर्म-तत्त्व का ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान होता है, परंतु भान नहीं होता है तो भी झगड़े होते हैं। खाने-पीने में देरी होना सामान्य बात होती है। सामान्य बातों में अज्ञानी मनुष्य झगड़ा करता रहता है, कषाय परवश बन जाता है। इससे अशांति, क्लेश और संताप जीवन में बढ़ते जाते हैं।

शांति और समता पाना है, आनंदमय और प्रसन्नतापूर्ण वातावरण यदि तू चाहता है तो हर घटना में कर्मसिद्धांत से मन का शीघ्र समाधान करना होगा।

'मुझे मेरा मनपसंद भोजन नहीं मिलता है, मेरे ही भोगांतराय कर्म की वजह से। मुझे जिस समय भोजन मिलना चाहिए उस समय नहीं मिलता है, मेरे ही भोगांतराय कर्म की वजह से। दूसरे लोगों का कोई दोष नहीं है। दूसरे लोग तो निमित्त बनते हैं।' ऐसे विचार करने चाहिए।

ऐसा मत सोचना कि 'यदि घर के लोग लापरवाही करते हैं, और मैं उनको नहीं कहूँगा तो उनकी लापरवाही बढ़ेगी, वे अपने कर्तव्यों के पालन में चुस्त नहीं रहेंगे... इससे घर में अव्यवस्था बन जाएगी, इसलिए कहना तो चाहिए, कभी फटकार भी देनी चाहिए...।'

कहना चाहिए, परंतु शांति से कहो। कर्तव्य पालन की शिक्षा देनी चाहिए, परंतु शांति से दिया करो। कोई अपना कर्तव्य भूल जाता है अथवा लापरवाही से पेश आता है तो समझाने का प्रयत्न करो, परंतु 'अपसेट' नहीं होना है। अस्वस्थ नहीं बनना है।

चेतन, तू दुकान से घर गया। घर में जा कर देखा तो पत्नी सोई हुई है और रसोईघर में रसोई-भोजन तैयार नहीं है! तू उस समय क्या करेगा? क्या सोचेगा? 'संभव है पत्नी की तबियत अच्छी नहीं हो, अन्यथा वह भोजन बनाती ही अथवा कहीं किसी के वहाँ से भोजन का निमंत्रण आया हो... मेरा इंतज़ार करती करती वह सो गई हो! उस को शांति से जगा कर पूछ लूँ...।' तू जगाता है और तेरा अनुमान सही निकलता है... तो वातावरण बिगड़ता नहीं है। भोजन में विलंब होने पर भी तू स्वस्थ और शांत रह सकता है।

आप लोगों के घरों में ज्यादातर क्लेश और झगड़े खाने-पीने की बातों को लेकर ही होते हैं। इसलिए 'भोगांतराय कर्म' का ज्ञान तुम लोगों को होना अति आवश्यक है। जो भी बँधा हुआ है 'भोगांतराय कर्म' उसको तोड़ने के उपाय करने चाहिए और इस जीवन में नया 'भोगांतराय कर्म' बाँधना नहीं चाहिए।

- पशु हो, पक्षी हो या मनुष्य हो, जब वे खाते हों - विक्षेप नहीं करना। उनका भोजन छीन लेना नहीं। खाते-खाते भगाना नहीं, उठाना नहीं।

- कोई किसी को भोजन देता हो, रोकना नहीं।

- भोजन का तिरस्कार करना नहीं।

- दूसरों को प्रेम से भोजन कराना।

- उत्तम-श्रेष्ठ भोजन दूसरों को कराना।

- घर पर आया हुआ अतिथि, बिना भोजन किए लौट न जाय, इसलिए

सावधान रहना।

- अशक्त, अपंग और रोगी जीवों को भोजन देना।

- दूसरों की श्रेष्ठ भोजन-सामग्री देखकर ईर्ष्या नहीं करना।

- साधु-संतों को उचित और श्रेष्ठ आहार देना।

इस प्रकार करने से 'भोग-लब्धि' प्राप्त होगी। यानी भोग में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आएगा।

लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम से भोग्य और उपभोग्य सामग्री प्राप्त होती है और भोगांतराय कर्म के क्षयोपशम से उस सामग्री का, बिना रोक-टोक मनुष्य भोग कर सकता है। खाने-पीने में कोई अंतराय नहीं आता है। जो चाहे वह खा सकता है, भोग सकता है।

'भोगांतराय' कर्म तोड़ने के लिए एक श्रेष्ठ उपाय है परमात्मा की भावपूर्ण भक्ति! चेतन, परमात्मा की प्रतिदिन 'नैवेद्य पूजा' तुझे करनी चाहिए।

वैसे तो आत्मा की स्वाभाविक 'अनाहारी अवस्था' का चिंतन-मनन कर, भोजन की आसक्ति को ही तोड़ना है। जब तक जीव कर्मों के बंधनों में बँधा हुआ है तब तक ही खाना पड़ता है, पीना पड़ता है। सिद्ध-बुद्ध और मुक्त होने पर आत्मा अनाहारी बन जाती है।

परमात्मा के पास 'अनाहारी अवस्था' की प्रार्थना करना। अनाहारी बनने का पुरुषार्थ भी यथाशक्ति करना। यानी हो सके उतनी तपश्चर्या करना।

चेतन, तेरी मामी के विषय में तेरे मन में जो प्रश्न पैदा हुआ, उस प्रश्न का समाधान हो जाएगा। 'उपभोगांतराय' कर्म के विषय में आज नहीं लिखता हूँ।

खाने-पीने में अधिक राग-द्वेष नहीं करना है। खाने-पीने में रसवृत्ति का संयम करना है। इस विषय में भी लिखना है... आज बस। यहाँ ही पत्र समाप्त करता हूँ। स्वस्थ रहे, - यही मंगल कामना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : १२

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

तेरा प्रश्न है : 'मेरा एक मित्र है, गुणवान है। परंतु शादी के बाद, एक वर्ष भी बीता नहीं होगा, उसने अपनी पत्नी को मायके भेज दिया है और आज वह संबंधविच्छेद की बात करता है। उसकी पत्नी अच्छी है, गुणवान और रूपवान है... इसलिए मन में प्रश्न उठा कि ऐसा क्यों होता है?'

चेतन, यह काम 'उपभोगांतराय' कर्म का है। पुरुष के लिए स्त्री उपभोग्य है, घर उपभोग्य है, वस्त्र और अलंकार उपभोग्य है। जो वस्तु बार-बार भोगी जा सकती है, वह उपभोग्य कहलाती है। वैसे पुरुष को भी 'संभोग सुख' नहीं मिलता है, तो उपभोगांतराय कर्म का ही कारण मानना चाहिए। चाहते हुए भी उपभोग का सुख नहीं मिलता है, उपभोग्य पात्र होने पर भी उपभोग का सुख नहीं मिलता है - इस उपभोगांतराय कर्म की वजह से।

कुछ उदाहरणों से यह बात समझाता हूँ :

- एक भाई ने अपनी पसंद के सुंदर वस्त्र सिलवाए। उसको वे वस्त्र पहनकर मित्र की शादी में जाना था। अगले ही दिन उसके शरीर में 'एलर्जी' हो गई। शरीर की चमड़ी लाल-लाल हो गई। वह डॉक्टर के पास गया। डॉक्टर ने कहा : एलर्जी अनेक प्रकार की होती है। तुम्हें यह एलर्जी 'सिंथेटिक' कपड़े की है। इसलिए टेरेलीन या टेरीकोट का कपड़ा नहीं पहनना। सूती वस्त्र ही पहनना।

वह भाई, वे मूल्यवान सुंदर वस्त्र नहीं पहन सका! इसका कारण, मूल कारण था उपभोगांतराय! निमित्त कारण बना एलर्जी का दर्द।

- एक लड़की की शादी हुई। जिस लड़के के साथ शादी हुई थी वह लड़का सुशिक्षित था, गुणवान और देवकुमार जैसा सुंदर था। परंतु कुछ दिन बीते न बीते, लड़के को 'ब्लड कैन्सर' हुआ। डॉक्टर की राय के अनुसार उसने 'स्त्री संभोग' का त्याग कर दिया। मन की इच्छा होते हुए भी 'संभोग सुख' में अंतराय आ ही गया। मूल कारण था उपभोगांतराय कर्म, निमित्त कारण बना ब्लड कैंसर!

- एक श्रीमंत व्यक्ति ने २० लाख रुपये ख़र्च कर भव्य बंगला बनवाया, बंगला तैयार हो गया था। उसमें रहने जाना था। मुहूर्त भी निकाला गया था, परंतु एक दिन चौकीदार ने आकर कहा : 'शेठ साब, कल रात में मैं नए बंगले में सोया था... मैंने बंगले में एक ऊँचे-ऊँचे मनुष्य को फिरता हुआ देखा... सफ़ेद वस्त्र पहने हुए थे... मैं, घबरा गया... पसीने से मेरा शरीर भर गया... मैं रज़ाई ओढ़ कर सो गया...।'

सेठ ने निर्णय किया - 'उस नए बंगले में नहीं रहना है।'

ऐसा क्यों हुआ? उपभोगांतराय कर्म के उदय से! भूत का दिखना तो निमित्त कारण था।

- एक परिचित भाई ने कहा : 'गुरुदेव, आपके अनेक प्रवचन सुनने पर भी मेरी पत्नी का अलंकारों का ममत्व दूर नहीं होता है। तीन बक्स भरे पड़े हैं अलंकारों से! नए-नए अलंकार बनवाती जाती है, परंतु पहनती नहीं है।' मैंने पूछा : 'क्यों नहीं पहनती है?' उसने कहा : 'बंबई है न! भय लगता है! गुंडे लोगों का भय लगता है। इसलिए नहीं पहनती हैं। इच्छा

होते हुए भी नहीं पहनती है!'

अलंकारों का उपभोग कौन नहीं करने देता है? उपभोगांतराय कर्म। गुंडों का भय तो निमित्त कारण था। मूल कारण उपभोगांतराय कर्म का उदय था।

- एक श्रीमंत 'मर्सीडीझ' कार लाए। कार का उपयोग अभी दो - तीन

दिन किया होगा, इनकमटैक्स कमिश्नर का फोन आया : 'दो दिन के लिए आपकी कार भेजें।' ड्रायवर भी साथ भेजें। कार भेजनी पड़ी। इसने सोचा : 'इस प्रकार तो कई ऑफिसर कार मँगवाएँगे.. कार बिगड़ जाएगी।' उसने कार को दूसरे गाँव भेज दिया, जहाँ उसका लड़का रहता था! कार गेरेज में बंद हो गई! कार का उपभोग वह श्रीमंत नहीं कर सका, चूँकि उपभोगांतराय कर्म का उदय था!

एक महत्वपूर्ण बात इस विषय में समझाता हूँ।

उपभोगांतराय कर्म, सभी उपभोगों में एक साथ अड़चनें नहीं डालता है। कभी स्त्री-सुख के उपभोग में, कभी वस्त्र-सुख के उपभोग में, कभी वाहन-सुख के उपभोग में... तो कभी आभूषण-सुख के उपभोग में अंतराय-विघ्न डालता है...। कभी दो प्रकार के, कभी तीन प्रकार के तो कभी सभी प्रकार के उपभोगों में अंतराय करता है।

कभी कोई पुण्यशाली को 'उपभोगांतराय' कुछ वर्षों में उदय ही नहीं आया हो। वह सभी प्रकार के सुखों का उपभोग करता है। वैसे भोगांतराय कर्म भी उदय में नहीं आता है तो वह सभी प्रकार के रसास्वाद कर सकता है! इच्छानुसार खाता-पीता है!

'बंधे हुए कर्म आत्मा में हो सकते हैं, परंतु उन कर्मों का उदयकाल नहीं आया हो... अथवा बँधे हुए कर्म-भोगांतराय-उपभोगांतराय, शिथिल हों, बिना प्रभाव बताये ही क्षीण हो गए हों! यदि आत्मा के साथ लगे हुए हैं वे कर्म, उसका उदयकाल आने पर अपना प्रभाव बताते हैं।

- कुछ जीवों को जन्म से ही भोगांतराय-उपभोगांतराय कर्म का उदय होता है,

- कुछ जीवों को तरुण-अवस्था में, यौवनकाल में... प्रौढ़ावस्था में अथवा वृद्धावस्था में ये कर्म उदय में आते हैं।

- लाभांतराय कर्म भी, जीवन में कभी भी उदय में आ सकता है! तू दुनिया में देखता है कि कोई मनुष्य अपने जीवन में ४० वर्ष तक बहुत रुपये कमाता है... बाद में नहीं कमाता है! ५० वर्ष तक जो चाहे वह खा सकता है,

पी सकता है और विषयभोग कर सकता है, बाद में भोगोपभोग में कुछ प्रतिबंध आ जाते हैं! इच्छानुसार खा नहीं सकता है... पी नहीं सकता है, पहन नहीं सकता है, संभोग नहीं कर सकता है। जीवन की किसी भी उम्र में यह स्थिति पैदा हो सकती है। कर्मों की इस अनिश्चितता से सारी दुनिया परेशान है। ग़रीब कभी श्रीमंत बन जाता है, श्रीमंत कभी ग़रीब बन जाता है! प्रियजनों का कभी संयोग होता है, कभी वियोग हो जाता है! कभी इच्छानुसार रंग-राग और भोगविलास कर सकता है, कभी इच्छा होते हुए भी रंग-राग और भोगविलास नहीं कर सकता है।

इन बातों के निमित्त भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, मूल कारण 'अंतराय कर्म' होता है।

श्री हनुमानजी की माता अंजना का जीवनवृत्त तूने पढ़ा है न? २२ वर्ष तक पति का वियोग रहा। पति के मन में अंजना के प्रति तीव्र अभाव पैदा हो गया था, जब कि अंजना निर्दोष और अकलंक थी। परंतु, पूर्वजन्म में अंजना की आत्मा ने, अपनी शोक्य रानी की जिनमूर्ति चुरा कर, रानी को प्रिय जिनमूर्ति से वियोग करवाया था! एक राजा की वे दोनों रानियाँ थी। रानी लक्ष्मीवती, अपनी प्रिय जिनमूर्ति के वियोग से तड़पती रही थी... तड़पाने वाली थी रानी कनकोदरी! बाद में एक साध्वी के सदुपदेश से, कनकोदरी ने वह चुराई हुई मूर्ति वापस लाकर लक्ष्मीवती के मंदिर में स्थापित कर दी थी।

ईर्ष्या के दूषित भाव से, उसने जो कर्म बाँधा, अंजना के भव में, उस कर्म ने उसके पति के मन में द्वेष का भाव पैदा कर दिया। और मूर्ति चुरा कर, रानी को परमात्मविरह का जो दुःख दिया, उस पाप क्रिया से जो कर्म बाँधा था, उस कर्म ने उसको पति-विरह का २२ वर्ष तक दुःख दिया!

हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। हर भाव का प्रतिभाव होता है। यदि तू शुभ और सुंदर भाव की, प्रतिभाव की अपेक्षा रखता है तो तू दूसरों के प्रति शुभ-सुंदर भावों को बहने दे। यदि तू सुखद प्रतिक्रिया की अपेक्षा रखता है तो दूसरों के साथ सुखद क्रिया-कलापों से व्यवहार कर।

- किसी जीव के प्रति दुर्भावना न हो,

- किसी जीव के साथ दुर्व्यवहार न हो,

जीवन में ये दो बातें सदैव याद रखना। तू अशुभ-पापकर्मों के बंधन से बचता रहेगा। इस अपेक्षा से 'जीव मैत्री' का तत्त्व कितना महत्वपूर्ण है - तू समझ सकेगा।

- अशुभ पाप भावना से और लक्ष्य से मनुष्य पाप कार्य करता है, उससे वह प्रगाढ़ कर्म बंधन करता है,

- अशुभ भावना के बिना, संयोग से पाप कर्म करता है, उससे वह सामान्य कर्म बंधन करता है। इसलिए चेतन, मन को पाप विचारो से बचाते रहना है। दूसरे जीवों के प्रति कभी भी पाप विचार नहीं करने चाहिए। कभी तेरे दुःख में, तेरी अशांति में दूसरे लोग निमित्त बन सकते हैं, बनते हैं, परंतु उस समय तुझे सोचना है कि 'मेरे ही पाप कर्म, इस घटना में मूल कारण हैं, ये लोग तो मात्र निमित्त हैं। इन के प्रति मुझे नाराज़ नहीं होना है, रोष नहीं करना है। पूर्व जन्मों में मैंने दूसरे जीवों को दुःख दिया होगा, अशांति-संताप दिया होगा, इसीलिए आज मैं दुःखी बना हूँ, अशांत बना हूँ। मेरी भूलों की सज़ा मुझे समताभाव से भोगनी ही चाहिए।'

- चेतन, किसी व्यक्ति को दान देते हुए रोकना नहीं,

- किसी की सुख प्राप्ति में विघ्न डालना नहीं,

- किसी के खाने-पीने में अंतराय करना नहीं,

- किसी जीव के सुखोपभोग में रुकावटें पैदा करना नहीं,

यदि ये चार बातें जीवन में निश्चित कर लेगा तो भविष्य तेरा सुखपूर्ण बनेगा। दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि और उपभोगलब्धि तुझे प्राप्त होगी। दुनिया का श्रेष्ठ सुखी व्यक्ति बनेगा।

अब रहा 'वीर्यांतराय कर्म'! इस कर्म के विषय में लिखना है, परंतु आज नहीं! स्वस्थ रहे - यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : १३

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला।

तू और तेरे मित्र, इस पत्रमाला को पढ़ते हो, उस पर चर्चा करते हो... चिंतन-मनन करते हो, और आनंदित होते हो, जानकर मेरा मन प्रसन्न हुआ।

तेरा नया प्रश्न : 'एक जीव निर्बल और एक जीव बलवान, एक जीव शक्तिहीन और एक जीव शक्ति से भरपूर... एक मनुष्य उल्लास और उमंग से भरा-पूरा होता है... एक मनुष्य सदैव 'मूड लेस' निराश और हतोत्साह क्यों होता है?'

चेतन, इसका कारण है 'वीर्यांतराय कर्म'। वीर्य यानी शक्ति, वीर्य यानी सामर्थ्य, वीर्य यानी बल। जो कर्म इस शक्ति को, सामर्थ्य को, बल को बढ़ने नहीं देता है, वह है वीर्यांतराय कर्म। आत्मा की स्वयं की शक्ति तो अनंत-अपार है परंतु यह कर्म उस को दबाकर बैठा है।

जिस जीवात्मा पर इस कर्म का दबाव ज्यादा होता है वह ज्यादा निर्बल, अशक्त और सामर्थ्यहीन होता है। ज्यों-ज्यों दबाव घटता जाता है, त्यों-त्यों बल-शक्ति-सामर्थ्य बढ़ते जाते हैं।

जिस मनुष्य पर इस कर्म का प्रभाव गहरा होता है वह 'मुड लेस' रहता है, कोई कार्य करने में उत्साह-उमंग नहीं होती है। जिस मनुष्य पर इस वीर्यांतराय कर्म का प्रभाव कम होता है, वह हमेशा 'मूड' में रहता है। हर कार्य में उत्साह होता है, उमंग होती है।

चेतन, जो लोग इस बात को नहीं जानते हैं, वे कितने अशांत और संतप्त होते हैं, उसके कुछ उदाहरण देता हूँ।

- एक शहर में, दोपहर के समय तीन व्यक्ति मेरे पास आए। पति, पत्नी और लड़का। लड़का होगा प्रायः २४/२५ साल की उम्र का। उन्होंने वंदना की और विनय से मेरे सामने बैठे। पुरुष ने पुराना परिचय निकाला और बात शुरू की।

'महाराजश्री, यह हमारा लड़का है। B.Com. पास है। परंतु क्या पता,

उसको कोई काम करना अच्छा नहीं लगता। खाता-पीता है और सोता है। आलसी बन गया है। न दुकान पर बैठता है, न सर्विस करता है...। क्या करना चाहिए इस के लिए?' बात करते समय पिता बार-बार लड़के के सामने देखता था, लड़का जमीन पर दृष्टि गड़ाए बैठा था।

माता ने कहा : 'महाराज साब, न कभी यह सबके साथ हँसता है, न हमारे साथ प्रेम से बोलता है...। कोई काम करता है तो बिना उत्साह के, बिना उमंग के! क्या हो गया है मेरे बेटे को?' माता की आँखें डबडबा गई। लड़का वैसे ही बैठा था।

- पिता के मन में पुत्र के प्रति द्वेष था।

- माता को पुत्र के प्रति करुणा थी।

- लड़के के मन में माता-पिता के प्रति उदासीनता थी।

माता-पिता की समस्या का समाधान मेरे पास था, परंतु वह समाधान पुत्र के लिए उपर्युक्त नहीं था। इसलिए लड़के को मंदिर में दर्शन करने भेज कर, मैंने माता-पिता को कहा : 'आप का लड़का वीर्यांतराय कर्म के प्रभाव में है। दूसरा कोई कारण नहीं है। वीर्यांतराय कर्म का प्रभाव पूर्णतया तो दूर होगा नहीं, होता भी नहीं है, परंतु प्रभाव कम करने के उपाय बताऊँगा। लड़के को ही बताऊँगा। वह पुरुषार्थ करेगा तो अवश्य सफलता पाएगा। आप दोनों उसके प्रति प्रेम और करुणा से व्यवहार करना। उसका तिरस्कार नहीं करना।'

लड़का मंदिर से आया। माता-पिता चले गए। लड़के को मैंने एक घंटा समझाया। 'वीर्यांतराय कर्म' का प्रभाव कम करने के उपाय बताये। उसको मेरी बातें पसंद आयी। उसने लगन से उपाय किए.. कुछ वर्ष तक। आज वह प्रसन्नचित्त है।

चेतन, एक दूसरा उदाहरण बताता हूँ :

वह पुरुष होगा ३०/३२ साल की उम्र का। उसका शरीर कमजोर लगता था। कुछ निराश भी लगता था। उसने मेरे एक परिचित श्रावक की पहचान देकर बात शुरू की : 'महाराज साब, क़रीबन १० साल से मेरा शरीर

कमजोर है। डॉक्टरों को बताया। शरीर की जाँच करवाई। शरीर में कोई रोग नहीं है। परंतु मैं थोड़ा भी काम करता हूँ, थक जाता हूँ। थोड़ा भी चलता हूँ, थक जाता हूँ। ज्यादा बोल दिया, थक जाता हूँ। बार-बार आराम करने की इच्छा होती है... जीवन का आनंद ही चला गया है... ऐसा क्यों होता है, मेरी समझ में नहीं आता है... कोई डॉक्टर की समझ में भी नहीं आता है।'

मैंने उसको 'वीर्यांतराय' कर्म का प्रभाव समझाया। जीव यह कर्म क्या करने से बाँधता है, यह बात समझाई और इस कर्म का प्रभाव कम करने के लिए मार्गदर्शन दिया। उसने उसी प्रकार धर्म पुरुषार्थ किया... और वह स्वस्थ बना। धर्म के प्रति उसकी श्रद्धा दृढ़ हुई। वह आज भी आनंद से धर्ममय जीवन जी रहा है।

एक संभ्रांत परिवार के पति-पत्नी वंदन करने आए। महिला ने विनय से पूछा : 'गुरुदेव, मेरा शरीर अच्छा है, घरवाले अच्छे हैं... फिर भी तपश्चर्या करने की मुझे इच्छा नहीं होती है! घर में कोई तपश्चर्या करता है तो मैं करने देती हूँ... परंतु मैं नहीं करती हूँ... ऐसा क्यों होता है? तप करने का उल्लास ही नहीं जगता है! वैसे, रोजाना मंदिर जाने को भी इच्छा नहीं होती है...।'

मैंने कहा : 'तुम्हारा 'वीर्यांतराय कर्म' तुम्हें तप नहीं करने देता है। इतना ही नहीं, दान देने में उत्साह नहीं आता होगा, खाने-पीने में और सुखोपभोग में भी तुम्हें आनंद नहीं होता होगा। 'वीर्यांतराय कर्म' ने तुम्हारे उत्साह और उमंग पर तुषारापात कर दिया है।'

महिला ने पूछा : 'तो फिर मैं क्या करूँ?'

मैंने कहा : 'वीर्यांतराय कर्म को तोड़ने का धर्मपुरुषार्थ करें।'

उसको धर्मपुरुषार्थ करने का मार्गदर्शन दिया और वह दंपति संतुष्ट बन कर गया।

चेतन, ये सारे उदाहरण गृहस्थ के बताए, अब एक उदाहरण एक मुनिराज का बताता हूँ। सुखी परिवार का एक पढ़ा-लिखा लड़का, वैराग्य से

दीक्षा लेता है। मोक्षमार्ग की आराधना करने की उमंगें हैं उसके हृदय में। एक वर्ष बीता होगा, ज्ञान-ध्यान में उस को कोई उत्साह नहीं रहा, तप और त्याग में कोई उल्लास नहीं रहा। असंख्य विचारों से और विकारों से उसका मन भर गया।

एक दिन अचानक हमारा मिलन हो गया! वह मुझे जानता था, मैं उसको पहचानता था। उसने अपनी सारी आंतर-बाह्य स्थिति बताई। पूछा : 'ऐसा क्यों होता है?'

मैंने कहा : 'वीर्यांतराय कर्म के उदय से! जिस प्रकार साधु को लाभांतराय कर्म के उदय से भिक्षा नहीं मिलती है, अल्प भिक्षा मिलती है, वैसे वीर्यांतराय कर्म के उदय से धर्मपुरुषार्थ में निरुत्साह आ जाता है।'

उस मुनिराज को धर्मपुरुषार्थ बताया। वे करते रहे व पुरुषार्थ और वीर्यांतराय कर्म को मंद कर दिया।

चेतन, थोड़े वर्षों से तू 'डिप्रेशन' नाम का रोग सुनता होगा। 'डिप्रेशन' का मूल कारण 'वीर्यांतराय कर्म' का उदय है। जितना उदय प्रबल, उतना ही डिप्रेशन ज्यादा! कोई बात या कोई वस्तु उसको सुख नहीं दे सकती है। वह निराशा की गहरी खाई में गिर पड़ता है। डॉक्टरों की दवा का भी कोई असर नहीं होता है। उसकी हालत बड़ी दयनीय बन जाती है।

चेतन, वह वीर्यांतराय कर्म, जीव कैसे बाँधता है, तू जानता है? शायद नहीं जानता होगा। इस कर्म के बन्धहेतु जानने ही चाहिए, जिससे तू सावधान रहेगा और वैसे कृत्य नहीं करेगा।

- मंत्र से, तंत्र से या यंत्र से दूसरे जीवों की शक्ति का पतन करना या करवाना।
- दूसरे जीवों की, क्रोध से, वैर से और लोभ से हिंसा करना, मारना,
- दूसरे जीवों को बाँधना,
- दूसरे जीवों को अपंग बना देना,
- अंगोपांगों का छेदन-भेदन करना,
- कान, आँख, नाक वगैरह इंद्रियों की शक्ति का नाश करना,
- मार-मार कर मूर्च्छित कर देना जीव को।
- शक्ति होते हुए भी धर्मपुरुषार्थ नहीं करना।

चेतन, यह सब करने से वीर्यांतराय कर्म बँधता है।

तेरा वह मित्र, एक बार तू उसको मेरे पास ले आया था, वह उसकी पत्नी को मारता है न? इसी वजह से उसकी पत्नी पुनः पुनः बेहोश होकर जमीन पर गिर जाती है, उस मित्र को कहना कि तूने वीर्यांतराय कर्म कितना प्रगाढ़ बाँधा है? जब यह कर्म अपना प्रभाव बताएगा.. तब तेरी क्या स्थिति बनेगी?

तप करने की शक्ति होते हुए भी प्रमाद से तप नहीं करता है, सेवा करने को, वैयावच्च करने की शक्ति होते हुए भी जो प्रमाद से सेवा नहीं करता है, तीर्थरक्षा करने की शक्ति होते हुए भी लापरवाही करता है... तो वह वीर्यांतराय कर्म बाँधता है! यह कर्म उदय में आएगा तब जीव को शक्तिहीन बना देगा, निर्वीर्य बना देगा।

दानांतराय कर्म का क्षयोपशम हो, लाभांतराय कर्म का क्षयोपशम हो, भोगांतराय-उपभोगांतराय कर्मों का क्षयोपशम हो... परंतु वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम नहीं होता है तो दान देने में, पैसे की प्राप्ति में, खाने-पीने में और वैषयिक सुखोपभोग में उत्साह नहीं रहता है। आनंद नहीं होता है। अशक्त... परवश और दीन-हीन बन कर जीवन लीला समाप्त कर देता है।

चेतन, धर्मपुरुषार्थ में और परमार्थ-परोपकार के अच्छे कार्य में प्रमाद नहीं करना। आलस्य, इस दृष्टि से जीव का कितना बड़ा शत्रु है, तू समझना। हिंसा, क्रूरता, कदर्थना... कितने बड़े पाप हैं- इस कर्मबंध की दृष्टि से सोचना, चिंतन करना। आज बस, इतना ही।

स्वस्थ रहे - यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : १४

प्रिय चेतन,
धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला। आनंद हुआ।

तेरा प्रश्नः

'दो दिन पूर्व हास्पिटल गया था, चूँकि मेरा एक मित्र 'कैंसर' के रोग से व्याकुल है। उसको देखा, साथ ही साथ हास्पिटल में अनेक छोटे-बड़े रोगी देखें... मरने के लिए जीते हुए रोगियों को देखें... मन भर आया... हास्पिटल से बाहर आया... मन में प्रश्न उठाः रोगों का मूल कारण क्या होगा? भिन्न-भिन्न रोगों के कारण क्या भिन्न-भिन्न होंगे? कुछ लोग रोगमुक्त बन पाते हैं... कुछ लोग मौत के मुँह में समा जाते हैं...ऐसा क्यों होता है?'

चेतन, कारण के बिना कार्य नहीं होता है। रोगों का मूल कारण होता है जीव का स्वयं का बाँधा हुआ 'अशातावेदनीय कर्म'। 'वेदनीय कर्म' के दो प्रकार होते हैंः एक शातावेदनीय, दूसरा अशातावेदनीय। हर जीव के दो वेदनीय कर्म में से एक तो उदय में होता ही है। कभी शातावेदनीय तो कभी अशातावेदनीय दुःख का अनुभव कराता है। शातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर निरोगी रहता है, अशातावेदनीय कर्म के उदय से शरीर में रोग पैदा होते हैं, शारीरिक पीड़ायें पैदा होती हैं।

शाता-अशाता के अनुभव समझाने के लिए कहा गया हैः 'मधुलेहनसन्निभं सात वेदनीयं, खड्गधाराच्छेदनसममसातवेदनीयम्' तलवार की धार पर शहद लगाया गया हो, कोई व्यक्ति अपनी जीभ से शहद चाटता है... उसको जो सुखानुभव होता है, वैसा शातावेदनीय का अनुभव होता है और शहद

चाटते चाटते तलवार की धार से जीभ कट जाती है... उससे जो दुःखानुभव होता है, वैसा अशातावेदनीय का अनुभव होता है।

चेतन, आज मैं 'अशातावेदनीय' कर्म की बात लिखता हूँ, चूँकि तेरे प्रश्न का समाधान उस कर्म में समाहित है। अशातावेदनीय कर्म का विषय और दुःखद प्रभाव तूने हास्पिटल में प्रत्यक्ष देखा है, परंतु उस कर्म का बंधन जीवात्मा कैसे करता है... वह समझना भी बहुत आवश्यक है। और कर्मबंधन के कारण तुझे मैं प्रत्यक्ष बताता हूँ।

- देख, यह लड़का अपनी जननी को कटु शब्द बोल रहा है, गंदे शब्द बोल रहा है, छुरी मारने जा रहा है... देखा न? यह लड़का अशातावेदनीय बाँध रहा है।

- देख, यह दूसरा बड़ा लड़का अपने पिता से झगड़ रहा है, गंदे शब्द बोल रहा है, छुरी मारने जा रहा है... देखा न? यह लड़का अशातावेदनीय बाँध रहा है।

- यह पुरुष...धर्मगुरु का अनादर कर रहा है... देखा न? धर्मगुरु की अवज्ञा कर रहा है... तिरस्कार कर रहा है...। वह पुरुष अशातावेदनीय कर्म बाँध रहा है।

- उस महिला को देखा। कितना क्रोध कर रही है? जोर-जोर से चिल्ला रही है...मुँह से अंगार जैसे शब्द निकाल रही है... वह अशातावेदनीय कर्म बाँध रही है।

- चेतन, उधर... उस गली में देख, दो पुरुष मिलकर उस व्यक्ति को निर्दयता से मार रहे हैं...। देखा न? वे दोनों अशातावेदनीय कर्म बाँध रहे हैं।

- उधर... उस घर में भी देख ले - वो महिला अपने बच्चे को निर्दयता से मार रही है... बच्चा रो रहा है, तड़पता है... फिर भी महिला रुकती नहीं है... मारती जाती है बच्चे को। महिला अशातावेदनीय कर्म बाँध रही है।

- चेतन, हम 'स्लोटर हाउस' नहीं जाएँगे.. वहाँ पशुओं को मारे जाते हैं न? मारने वाले वे कसाई लोग अशातावेदनीय बाँधते हैं।

- घर में खटमल, मच्छर-वगैरह छोटे जीवों को मारनेवाले लोगों को क्या तूने नहीं देखे हैं? वे मारनेवाले लोग, अशातावेदनीय बाँधते हैं।

- जो दूसरों को, क्षमायाचना करनेवालों को क्षमा नहीं देते हैं, वैरभावना बनाए रखते हैं... वे अशातावेदनीय बाँधते हैं।

- जो व्रत नहीं लेते हैं, नियम ग्रहण नहीं करते हैं, वे भी कर्म बाँधते हैं। व्रत नियम की बात पर हँसते हैं, व्रत-नियमों का उपहास करते हैं।

- चेतन, अभी जो अपने सामने से गुजरा न? वह लाखों रुपयों का मालिक है, परंतु अति कृपण है! उसको कौन समझाए कि वह अशातावेदनीय कर्म बाँध रहा है।

- चेतन, जब सर्वप्रथम मैंने तुझे प्रतिदिन परमात्मपूजन करने का आग्रह किया था... तब मेरी बात तुझे पसंद नहीं आई थी! याद है? हालाँकि तूने उस दिन से परमात्मपूजन करना शुरू कर दिया था, परंतु मैंने क्यों आग्रह किया था परमात्मपूजन करने का? चूँकि जो धर्मकार्य में प्रमाद करता है, वह अशातावेदनीय कर्म बाँधता है! मैं नहीं चाहता था कि तू वैसा कर्म बाँधे।

- हम साधु हैं न? यदि हम हमारी १० प्रकार की आचारसंहिता का पालन नहीं करते हैं, यानी क्षमा, नम्रता, निर्लोभता वगैरह यतिधर्म का पालन नहीं करते हैं और इच्छाकार, मिथ्याकार...तहत्ति वगैरह १० प्रकार की सामाचारी का पालन नहीं करते हैं, तो अशातावेदनीय कर्म बाँधते हैं।

- चेतन, तेरे घर के पासवाले मकान में तू देखता है न... वह औरत उसके पति को हमेशा परेशान करती है? रोती है... विलाप करती है... वह अशातावेदनीय बाँधती है।

- एक श्राविका ने फरियाद कीः 'आप के भक्त (उसका पति) मुझे रोज मारते हैं... घोर क्लेश करते हैं... आप उनको समझाएँगे?' उस भक्त को मैंने कहाः 'तुम औरत को मारते हो, क्लेश करते हो, तुम अशातावेदनीय कर्म बाँधते हो... और भी दूसरे कर्म बाँधते हो... जब वे कर्म उदय में आएँगे.. शरीर रोगों से भर आएगा.. असह्य वेदना के शिकार बन जाओगे... इसलिए यह मारना...कटु शब्द बोलना वगैरह छोड़ दें।'

- आत्महत्या करनेवाले, मरें या न मरें, वे लोग अशातावेदनीय कर्म तो बाँधते ही हैं। स्वयं को दुःख देने से भी यह कर्म बँधता है। स्वयं रोने से, दूसरों को रुलाने से भी यह कर्म बँधता है। स्वयं शोक करने से और दूसरों को शोकमग्न करने से अशातावेदनीय बँधता है।

चेतन, एक काम करने जैसा है। एक-दो हास्पिटल में... प्रयोग के तौर पर ऐसे चार्ट बनवा कर लगवाने चाहिए - 'आप को दर्द क्यों हुआ?' 'आप को वेदना क्यों सहनी पड़ती है?' ऐसे-ऐसे हैडिंग देकर जो बातें मैंने ऊपर लिखी हुई हैं, वे बातें लिखनी चाहिए। दर्दी बार-बार पढ़ेगा... उसका हृदय परिवर्तन हो सकता है। वैसे ग़लत कार्य नहीं करेगा, कि जिससे अशातावेदनीय कर्म बँधता है और वह कर्म उदय में आकर जीव को रोगी... वेदनाग्रस्त बना देता है।

- चेतन, जब मैं किसी अंध व्यक्ति को देखता हूँ तो सोचता हूँः इस मनुष्य ने पूर्व जन्म में किसी की आँखें फोड़ दी होगी? किसी को बोला होगा... आक्रोश किया होगा - 'देखता नहीं क्या? अंधा है? मेरा पैर कुचल दिया...?' अथवा मन में सोचा होगा कि-मेरा पति अंधा हो जाय... तो अच्छा... मैं उस पुरुष के साथ निर्भय होकर कामक्रीडा कर सकूँ...।' अथवा किसी की आँखों पर ही प्रहार कर दिया होगा...।

- दुःख और आपत्ति में जो मनुष्य धर्म छोड़ देता है, वह भी अशातावेदनीय कर्म बाँधता है। वह कर्म उदय में आता है... सुख और संपत्ति के समय में! सुंदर पत्नी हो, सुविधा युक्त बंगला हो, विपुल धन-संपत्ति हो, उस समय शरीर में रोग उत्पन्न हो जाए! पेट में अल्सर हो जाय, डायाबिटीज हो जाय, कैंसर हो जाय, टी.बी. हो जाय! कोई भी रोग उत्पन्न हो जाय।

- अशक्त, अपंग और बीमारों की सेवा करने की शक्ति हो, समय हो, फिर भी जो सेवा नहीं करता है, वह अशातावेदनीय कर्म बाँधता है। वृद्ध पुरुषों की सेवा नहीं करता है... यह कर्म बाँधता है।

इसलिए तो तीर्थंकर भगवंतों ने बाल-वृद्ध-बीमार वगैरह की सेवा-वैयावच्च करने का उपदेश दिया और इस गुण को महान गुण बताया।

चेतन, हास्पिटल में जाकर, एक-एक रोगी का अवलोकन करना और 'इस व्यक्ति ने पूर्व जन्मों में कौन सा पाप कर्म किया होगा...?' अनुसंधान करना। बाद में, यदि उस दर्दी से बात करने का अवसर मिले तो करुणा से, मृदु शब्दों में यह तत्त्वज्ञान उसको देना। समझाना दुःख-दर्द के कारणों को।

यह भी कहना किः 'घबराओ मत, अशातावेदनीय कर्म का उदयकाल समाप्त होगा और शातावेदनीय कर्म का उदय काल शुरू होगा... तब तुम निरोगी बन जाओगे। तुम्हारी सारी वेदनाएँ दूर हो जाएँगी।'

शाता के बाद अशाता और अशाता के बाद शाता... यह परिवर्तन जीवन में चलता ही रहता है। चूँकि शातावेदनीय कर्म प्रकृति और अशातावेदनीय कर्म प्रकृति-दोनों परिवर्तनशील कर्म प्रकृति हैं।

हो सकता है कोई जीव प्रकृष्ट शातावेदनीय कर्म लेकर जन्मा हो, उसको जीवन में कभी अशातावेदनीय उदय में नहीं आए! वैसे कोई जीव उत्कृष्ट अशातावेदनीय कर्म बाँधकर जन्मा हो, उसके जीवन में कभी शाता का अनुभव नहीं हो। देवों के जीवन में प्रायः शाता का ही अनुभव होता है और नारकी के जीवों को प्रायः जीवनपर्यंत अशाता का ही अनुभव होता है।

'प्रायः' शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि देवों को जब अपने मृत्यु का ज्ञान होता है तब वे दुःखी हो जाते हैं और नारकी के जीव तब शाता का क्षणिक अनुभव करते हैं, जब तीर्थंकरों के पांच कल्याणक होते हैं। ये अपवाद हैं।

चेतन, यहाँ... इस जीवन में जब शरीर को कोई दुःख आए, तब अपने ही अशातावेदनीय कर्म को कारण मानना और समताभाव से वेदना सहन करना। परमात्मा की शरण लेना।

चिंतन करना इस पत्र पर।

स्वस्थ रहे - यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : १५

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

तेरा प्रश्न है :

'देवों को सदैव शारीरिक सुख होता है, न कोई रोग, न कोई व्याधि। शारीरिक संपूर्ण सुख का क्या कारण होता है और नरक में शारीरिक संपूर्ण दुःख का क्या कारण होता है?'

उत्कृष्ट शातावेदनीय कर्म, सदैव शारीरिक सुख देता है। उत्कृष्ट शारीरिक सुख स्वर्ग में-देवलोक में भोगा जाता है। कुछ आत्माएँ इस मनुष्य जीवन में भी श्रेष्ठ शारीरिक सुख भोगती हैं।

चेतन, उत्कृष्ट शातावेदनीय कर्म बँधता है उत्कृष्ट गुरुभक्ति करने से। 'गुरु' शब्द व्यापक अर्थ में समझना। माता गुरु है, पिता गुरु है, कलाचार्य और धर्माचार्य भी गुरु हैं। इन सभी पूज्यों की समुचित भक्ति करने से, उनके तन-मन को सुख-शाता देने से 'शातावेदनीय कर्म' बँधता है। किसी पूज्य व्यक्ति की अवज्ञा नहीं, अनादर नहीं, तिरस्कार नहीं। सदैव पूज्यभाव, सदैव सद्भाव और सदैव समुचित भक्ति करते रहो... शातावेदनीय कर्म ऑटोमैटिक बँधता जाएगा, तुझे बाँधना नहीं पड़ेगा!

परंतु निरंतर पूज्य भाव... निरंतर सद्भाव तभी हृदय में रहता है जब मनुष्य क्षमाशील और विनम्र हो। सरल और संतोषी हो। गुरुजनों की ओर से कभी दुर्व्यवहार हो, उस समय उनके प्रति दुर्भावना नहीं आ जाय - पूज्य भाव बरफ की तरह पिघल न जाय, इस बात की सावधानी हमेशा रहनी चाहिए।

- कभी-कभी माता गुस्सा करती है,
- कभी-कभी पिता उपालंभ देते हैं, मारते भी हैं,
- कभी कलाचार्य-अध्यापक शिक्षा करते हैं,
- कभी धर्मगुरु कटु सत्य सुनाते हैं...

होता है यह सब! उस समय मन शांत रहना चाहिए। मन का समाधान होना चाहिए। 'ये सब पूज्य मेरे हित के लिए ही कहते हैं, उनके हृदय में मेरे प्रति प्रेम है... वात्सल्य है...।' उनकी सेवा-भक्ति में जरा सी भी क्षति नहीं आनी चाहिए। ऐसा भक्ति भाव, उत्कृष्ट शातावेदनीय कर्म के बंध में कारण बनता है। वही कर्म जीव को निरंतर आरोग्य का सुख देता है।

उत्कृष्ट शातावेदनीय कर्म बाँधना है तो क्षमाशील बनना पड़ेगा। जितना क्रोध कम, उतनी क्षमा ज्यादा। दूसरों के अपराधों को महत्व नहीं देते हुए, नगण्य करने होंगे। हृदय को शांत बनाए रखना होगा। जितना समय क्षमा से हृदय शांत रहता है, उतना समय शातावेदनीय कर्म बँधता रहता है।

वैसे, संसार के सभी दुःखी जीवों के प्रति करुणा रहती है हृदय में - 'इन सभी जीवों के सभी प्रकार के दुःख दूर हों... मेरा चले तो मैं सभी जीवों के दुःख दूर करूँ..' तो शातावेदनीय कर्म बँधता रहता है, श्रेष्ठ क्वालिटी का बँधता है। वैसे, जब-जब तू दुःखी के प्रति करुणा से प्रेरित हो, भोजन देता है, वस्त्र देता है, आवास वगैरह देता है, तू शातावेदनीय बाँधता है।

पापी जीवों के प्रति भाव-करुणा से प्रेरित हो उनको पाप-त्याग का उपदेश देता है, धर्ममय जीवन जीने का मार्गदर्शन देता है, तो शातावेदनीय कर्म बाँधता है।

इस प्रकार द्रव्य करुणा और भाव करुणा से जो शातावेदनीय कर्म बँधता है (पुण्य कर्म) उसके फलस्वरूप शरीर का आरोग्य तो मिलता ही है, साथ-साथ, शारीरिक और मानसिक सुख देनेवाला परिवार मिलता है। माता, पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र... मित्र वगैरह की ओर से सुख और शांति ही मिलती रहती है।

चेतन, यदि तू गृहस्थ जीवन में अणुव्रतों का पालन करता है और मैं साधुजीवन में महाव्रतों का पालन करता हूँ - तो अपना शातावेदनीय कर्म बँधता है। जितने अंशों में व्रतपालन में क्षतियाँ होती हैं, दोष लगते हैं, उतने अंशों में अशातावेदनीय कर्म बँधता है। अपने आसपास देखते हैं न कि एक

व्यक्ति कई वर्षों से निरोगी है, अचानक वह बीमार हो जाता है, हास्पिटल में ले जाना पड़ता है... एक-दो महीना बीमारी रहती है, पुनः वह निरोगी बनता है...! फिर वर्ष के बाद बीमार हो जाता है... १०/१५ दिन बीमारी भोगता है... रोग सताते हैं उसको... पुनः ठीक हो जाता है....। होता है न ऐसा? इसका कारण यह है... व्रत पालन करते करते बीच-बीच में दोष लगाते हैं, अतिचार लगाते हैं... अथवा किसी व्रत का भंग करते हैं।

साधुजीवन में यदि हम लोग हमारी १० प्रकार की 'सामाचारी' का सम्यग् पालन करते हैं, यानी हमारा आपस का

व्यवहार सुचारु रूप से निभाते हैं, किसी के मन को दुःखाते नहीं हैं, किसी को शारीरिक पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं, तो शातावेदनीय कर्म बाँधते हैं। जब-जब हमारा व्यवहार बिगड़ता है तब अशातावेदनीय बँध जाता है! इसलिए साधुपुरुषों को अपने व्यवहारों को सदैव शुद्ध रखने चाहिए।

- जो जीवात्मा क्रोधविजय, मानविजय, मायाविजय और लोभविजय करने का प्रयत्न करता रहता है, वह शातावेदनीय कर्म बाँधता है। वह प्रयत्न-पुरुषार्थ मानसिक होता है। सम्यग् ज्ञान के सहारे, सद्गुरुओं के सहारे यह पुरुषार्थ किया जा सकता है।

- वैसे, दानरुचि से भी शातावेदनीय कर्म बँधता है। यदि तेरे मन में दान देने की भावना बनी रहती है, अवसर-अवसर पर दान देता रहता है... तो शातावेदनीय बाँधता रहता है!

- संकट और आपत्ति के समय भी जो मनुष्य धर्म का त्याग नहीं करता है, वह उत्कृष्ट शातावेदनीय कर्म बाँधता है। यदि तू रात्रिभोजन-त्यागी है, कभी सूर्यास्त के पूर्व घर नहीं पहुँच पाया, भूख जोरों की लगी है... फिर भी तू रात्रिभोजन नहीं करता है, 'मेरी प्रतिज्ञा है रात्रिभोजन नहीं करने की, मैं रात्रि में नहीं खाऊँगा!' तो तू शातावेदनीय बाँध लेता है।

चेतन, एक परिचित परिवार की लड़की है। शादी के पूर्व उसने दो प्रतिज्ञा ले ली थी - प्रतिदिन परमात्मा की पूजा करने की और प्रतिदिन एक सामायिक करने की। प्रतिज्ञा का दृढ़ता से वह पालन करती थी... उसकी शादी हुई, ससुराल गई। वहाँ उसकी सास ने और पति ने कह दिया - 'तू

मंदिर नहीं जा सकती है... और सामायिक भी नहीं कर सकती है।'

लड़की ने अपनी प्रतिज्ञा की बात कही, परंतु सास और पति नहीं माने। लड़की जाती रही मंदिर, करती रही पूजा और सामायिक। सास तंग करती रही, पति मारता रहा! लड़की सहन करती रही। 'कुछ भी हो जाए, मैं मेरी प्रतिज्ञा का पालन करूँगी।' वह मौन रह कर संकट सहन करती है। सास और पति की अवसरोचित सेवा करती है, घर का काम करती है।

एक दिन उसका पति आर्थिक संकट में फँस गया। पाँच लाख रुपये का नुकसान हो गया था। वह उसकी माँ को बता रहा था... इस लड़की ने द्वार की ओट में खड़े-खड़े सुन लिया। जब उसका पति बेड रूम में गया, इस लड़की ने अपने सोने के अलंकारों का डिब्बा ला कर पति के सामने रख दिया। पति ने पूछाः 'क्या बात है?' उसने कहाः 'आप बेच दें अलंकारों को, दो-तीन लाख रुपये आ जाएँगे...। जब आप कमाएँगे.. तब बनवा लूँगी अलंकार...।' पति गद्गद हो गया। पत्नी की महानता देख कर, उसका सर झुक गया। जब माँ को (लड़की की सास को) मालूम हुई यह बात... वह भी बहू को छाती से लगा कर फफक-फफक कर रो दी। बाद में कभी भी सास और पति ने उसको मंदिर जाने से रोका नहीं, सामायिक करने से रोका नहीं!'

लड़की ने कैसा शातावेदनीय कर्म बाँधा होगा! श्रेष्ठ और अपूर्व!

चेतन, शातावेदनीय कर्म बाँधने के ये सारे उपाय हैं। दो-तीन और उपाय बताकर पत्र पूर्ण करूँगा। एक उपाय है बीमार की सेवा। जो रुग्ण हैं, ग्लान हैं... दर्दी हैं... उनकी सेवा करने से शातावेदनीय कर्म बँधता है। बच्चा हो या बूढ़ा हो... गृहस्थ हो या साधु-संत हो, मनुष्य हो या पशु हो... सेवा करते रहो.... शातावेदनीय बाँधते रहो! ऐसा प्रकृष्ट पुण्य कर्म जीव बाँधता है कि उसका श्रेष्ठ फल भोगने के लिए स्वर्ग में ही जाना पड़ता है। देवगति में ही जाता है जीव!

गुरुसेवा, शातावेदनीय बाँधने का एक श्रेष्ठ उपाय है। भक्तिभाव से उचित भिक्षा देना, वस्त्र देना, आवास देना और औषध देना। साधु-साध्वी की ज्ञानोपासना में सहायक बनना। ज्ञानोपकरण प्रदान करना। प्रशंसा और

गुणानुवाद करना। बीमारी में दिन-रात सेवा में तत्पर रहना।

जिनपूजा! शातावेदनीय बाँधने का अद्भुत उपाय है। तीर्थंकर परमात्मा के प्रति हृदय में प्रीति हो, भक्ति हो... और उल्लसित भाव से जिनचैत्य में जाते हो... श्रेष्ठ द्रव्यों से परमात्मपूजन करते हो... भावविभोर हो एकाग्र मन से परमात्मा की स्तुति-स्तवना करते हो... विधि से और सावधानी से इस प्रकार जिनपूजा करते हो, तो उत्कृष्ट शातावेदनीय कर्म बाँधते हो।

यह तो स्वेच्छा से जिनपूजा और गुरुसेवा की बात कही, अनिच्छा से भी जो जिनपूजा करता है, गुरुसेवा करता है (किसी के दबाव से या भय से अथवा स्वार्थ से...) तो भी शातावेदनीय कर्म बाँधता है!

अब एक महत्वपूर्ण और अंतिम उपाय बताता हूँ।

शीलधर्म का पालन! स्वपत्नी में संतोष रखनेवाला, परस्त्री का त्यागी सदाचारी पुरुष और स्वपति में ही संतुष्ट, पर-पुरुष की त्यागी स्त्री, ये दोनों शातावेदनीय कर्म बाँधते हैं। जितना ज्यादा ब्रह्मचर्य का पालन करता है मनुष्य, उतना ही प्रगाढ़ शातावेदनीय कर्म बाँधता है।

हर जीवात्मा अपने जीवन में सुख-शांति चाहता है। मन की शांति और शरीर का स्वास्थ्य कौन नहीं चाहता? वह पाने के ये सारे उपाय ज्ञानी पुरुषों ने बताए हैं।

इस जीवन में तो पूर्व जन्मों में उपार्जित शातावेदनीय और अशातावेदनीय कर्मों को भोगने के हैं, परंतु भविष्य अपने हाथ में है! भविष्य को सुखमय और शांतिमय चाहते हैं, तो ये सारे उपाय-हमारी आराधना बन जानी चाहिए।

शातावेदनीय के उदय में स्वस्थता और अशातावेदनीय के उदय में समताभाव बनाए रखना।

तू स्वस्थ रहे, यही शुभ कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : १६

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद!

तेरा प्रश्न हैः 'कुछ लोग ऐसे हैं जो सत्य तत्त्व समझते ही नहीं। उनको समझाने का प्रयत्न करने पर भी समझते नहीं - ऐसा क्यों होता है? असत्य का दुराग्रह क्यों? असत्य को सत्य और सत्य को असत्य मानने की मनोवृत्ति क्यों?'

चेतन, तेरे प्रश्न का प्रत्युत्तर देने के पूर्व, कुछ महत्वपूर्ण बातें लिखता हूँ, तेरे प्रश्न के उत्तर की पूर्वभूमिका है यह।

- तू इतना तो जानता ही है कि जैन दर्शन आत्मा को अनादि मानता है। यानी आत्मा को कोई जन्म नहीं देता है, कोई उत्पन्न नहीं करता है।

- अनादि आत्मा के साथ कर्मों का संबंध भी अनादि है - यह बात भी मैंने तुझे लिखी है पहले। यानी कर्मयुक्त आत्मा अनादि है।

- आत्मा के साथ 'कर्म' अनादि हैं वैसे कर्मबंध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय वगैरह भी अनादि काल से साथ ही लगे हुए हैं।

- इस प्रकार, आत्मा अनादि है, आत्मा के साथ कर्म-संबंध अनादि है और कर्म बंध के हेतु मिथ्यात्व वगैरह अनादि हैं।

चेतन, प्रत्येक जीवात्मा की चेतना प्रारंभ में अविकसित होती है। अविकसित अवस्था में जीवों का अवस्थान सर्वसाधारण होता है। एक शरीर में अनंत जीव साथ रहते हैं! पूर्ण ज्ञानी की दृष्टि में वे 'जीव' होते हैं, उनको चेतना-युक्त जीवत्व दिखता है... परंतु जो ज्ञानी नहीं हैं, उनकी दृष्टि में वे जीव जड़सदृश होते हैं।

- एक शरीर में अनंत जीव-वैसे शरीर भी अनंत! वहाँ जीवों की चेतना अव्यक्त होती है... कर्म भी अव्यक्त होते हैं और मिथ्यात्व भी अव्यक्त होता है। अव्यक्त मिथ्यात्व, जीव में प्रगट रूप से कोई गुण-दोष को पैदा नहीं कर सकता है।

- 'एक शरीर में अनंत जीव' की स्थिति को जैन दर्शन 'निगोद' कहता

है। निगोद में रहे जीवों को एक मात्र स्पर्शन-इंद्रिय होती है। जिह्वा, घ्राण, चक्षु और श्रवण, उन जीवों को नहीं होते। इसलिए वे 'एकेंद्रिय' जीव कहलाते हैं। इन जीवों को मन नहीं होता है! एक इंद्रियवालों को, दो इंद्रियवालों को, तीन इंद्रियवालों को, चार इंद्रियवालों को मन नहीं होता है। पाँच इंद्रियवाले जीवों को मन होता है। परंतु सभी पंचेंद्रिय जीवों को नहीं होता है मन। कुछ जीवों को होता है मन, कुछ जीवों को नहीं होता।

- जब तक मन नहीं होता है तब तक 'मिथ्यात्व' अव्यक्त होता है, मनवाले जीवों का 'मिथ्यात्व' व्यक्त होता है।

- यह 'व्यक्त मिथ्यात्व' ही जीव को सत्य-असत्य के विषय में भ्रमित करता है। इस मिथ्यात्व की वजह से जीव सत्य को असत्य मानता है, असत्य को सत्य मानता है। मिथ्यात्व का प्रभाव जीव पर ज्यादा होता है, तो वह असत्य का प्रबल आग्रही होता है। मिथ्यात्व का प्रभाव कम होता है तो असत्य का आग्रह प्रबल नहीं होता है। असत्य को सत्य मान कर और सत्य को असत्य मान कर ही ये लोग जीते हैं।

चेतन, तेरे प्रश्न का प्रत्युत्तर मिल गया न? मिथ्यात्व के गहरे प्रभाव में रहे हुए जीवों को सत्य समझाने पर भी वे तेरे सत्य को असत्य ही मानेंगे। तेरी बात का स्वीकार नहीं करेंगे।

यह मिथ्यात्व, 'मोहनीय कर्म' का एक प्रकार है। इसलिए वह 'मिथ्यात्व मोहनीय' कहा जाता है। सत्य का दर्शन नहीं होने देता है यह मिथ्यात्व, इस अपेक्षा से 'दर्शनमोहनीय' कहलाता है।

- सही परमात्मतत्त्व का दर्शन नहीं होने देता है,

- सही गुरु-तत्त्व का दर्शन नहीं होने देता है,

- सही धर्म-तत्त्व का दर्शन नहीं होने देता है।

मोहित कर देता है जीव को यह मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म। सम्मोहित जीव वास्तविक वस्तु को, उसके सही रूप में नहीं देख पाता है। अवास्तविक रूप को देखता रहता है। जिस प्रकार तांत्रिक प्रयोग से सम्मोहित मनुष्य, पानी को दूध देखता है, दूध को पानी देखता है। स्त्री को पुरुष देखता है, पुरुष

को स्त्री देखता है, वैसे मिथ्यात्व से सम्मोहित मनुष्य -

- जो परमात्मा नहीं हैं, उनको परमात्मा मानता है,

- जो गुरु नहीं हैं वास्तव में, उनको गुरु मानता है,

- जो धर्म नहीं है वास्तव में उसको धर्म मानता है।

जब तक मिथ्यात्व का सम्मोहन दूर नहीं होता है तब तक यह स्थिति बनी रहती है। ऐसे मनुष्य को कितना भी समझाया जाय... नहीं समझ पाएँगे। हाँ, मिथ्यात्व का सम्मोहन दूर किया जाय... अथवा स्वतः वह सम्मोहन दूर हो जाय... तो सत्य का स्वीकार और असत्य का त्याग करने में देरी नहीं होती है।

जिस समय इन्द्रभूति गौतम अपने ५०० छात्रों के साथ श्रमण भगवान महावीर स्वामी के पास आए थे, उन पर मिथ्यात्व का सम्मोहन था! वे बुद्धिमान थे, विद्वान थे... परंतु उनकी बुद्धि और विद्वत्ता, मिथ्यात्व से सम्मोहित थी। परंतु मिथ्यात्व का सम्मोहन, भगवान महावीर के प्रथम दर्शन से और उनके दो शब्दों से बिखरने लगा था! 'हे इन्द्रभूति गौतम, तुम सुखपूर्वक यहाँ आए?' जैसे शब्दों से...! वचनों से मनुष्य को जैसे सम्मोहित किया जा सकता है, वैसे शब्दों से... वचनों से सम्मोहन दूर भी किया जा सकता है। भगवान महावीर के वचनों से इन्द्रभूति गौतम और उनके ५०० छात्रों का मिथ्यात्वजनित सम्मोहन दूर हो गया... असत्य को पहचान लिया, सत्य को जान लिया। असत्य को छोड़ दिया, सत्य को पा लिया!

चेतन, 'इन्द्रभूति गौतम का 'मिथ्यात्व' किस प्रकार का था, जो कि भगवान महावीर के वचनों से, उनके प्रभाव से दूर हो गया?' तेरे मन में प्रश्न पैदा होगा। मैं तुझे इस पत्र में मिथ्यात्व के पाँच प्रकार बताता हूँ। 'चौथे कर्मग्रंथ में ये पाँच प्रकार बताए गए हैं:'

अभिगहियमणभिगहियाभिनीवेसियसंसइयमणाभोगं, पण मिच्छे...' (५१)

१. आभिग्रहिक, २. अनाभिग्रहिक,

३. आभिनिवेशिक, ४. सांशयिक,

५. अनाभोगिक,

'यही मेरा धर्म, मेरा दर्शन सच्चा है, दूसरा कोई नहीं,' - ऐसा कुल परंपरा से प्राप्त धर्म-दर्शन को दृढ़ता से मानना, जो कि सही नहीं है, सत्य नहीं है, इसको आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहते हैं।

'मैं तो सभी धर्मों को, सभी दर्शनों को अच्छे मानता हूँ,' इस प्रकार सभी धर्म-दर्शनों के प्रति मध्यस्थभाव होता है - उस को अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहते हैं। किसी एक धर्म के प्रति पक्षपात नहीं होता है।

अभिनिवेश होता है - 'मैं कहूँ वही सही!' सत्य को जानते हुए भी असत्य का आग्रह, छोड़ता नहीं है, यह है आभिनिवेशिक मिथ्यात्व। वह मिथ्यात्व, चारों मिथ्यात्व की अपेक्षा से ज्यादा ख़तरनाक है।

'भगवान ने ये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय वगैरह द्रव्य बताए तो हैं, परंतु क्या ये सच हैं ही? भगवान ने मोक्ष... स्वर्ग... नरक वगैरह तत्त्व बताए हैं... परंतु ये बातें सत्य होंगी क्या?' संशय! मन में शंकाएँ पैदा करता रहता है यह सांशयिक मिथ्यात्व।

अनाभोगिक मिथ्यात्व यानी अव्यक्त मिथ्यात्व। जो एकेंद्रिय वगैरह जीवों को होता है।

चेतन, तू समझ गया होगा, इन्द्रभूति गौतम वगैरह को पहला आभिग्रहिक मिथ्यात्व होना चाहिए था। भगवान के प्रभाव से वह दूर हो गया।

विद्वान, बुद्धिमान और शास्त्रज्ञ पुरुषों को प्रायः 'आभिनिवेशिक' मिथ्यात्व होता है। उनको अपनी विद्वत्ता का, बुद्धि का, शास्त्र ज्ञान का अभिनिवेश होता है। जानते हुए भी असत्य को नहीं छोड़ते हैं। जानते हैं - "मैंने जो बात पकड़ी है वह ग़लत है... असत्य है, परंतु अब मैं कैसे छोड़ दूँ? मैंने मेरी बुद्धि से, मेरी विद्वत्ता से असत्य को सच सिद्ध कर दिया है...

अनेक तर्कों से और शास्त्र वचनों से...। यदि मैं अब उस बात को छोड़ देता हूँ और सत्य का स्वीकार करता हूँ... तो मेरा मत माननेवाले मेरे अनुयायी... मेरा तिरस्कार करेंगे... मेरी वजह से मेरे अनुयायियों के सिर शर्म से झुक जाएँगे.. दुनिया में मेरी अपकीर्ति होगी...।' आभिनिवेशिक मिथ्यात्व ऐसी विपरीत बुद्धि पैदा करता है।

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व का सम्मोहन ऐसा प्रबल होता है कि तीर्थंकर जैसे तीर्थंकर भी उस सम्मोहन को दूर नहीं कर पाते हैं। श्रमण भगवान महावीर, अपने जामाता-शिष्य जमालि मुनि को नहीं समझा पाए थे। यह भगवान की अशक्ति नहीं थी परंतु जमालि मुनि का आभिनिवेशिक मिथ्यात्व का उदय था। प्रगाढ़ सम्मोहन था मिथ्यात्व का।

आभिग्रहिक मिथ्यात्व का सम्मोहन प्रबल होता है, परंतु उस सम्मोहन को दूर करने के उपाय हैं, प्रबल निमित्त मिलने से सम्मोहन दूर हो जाता है। आज भी ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं। अपनी मिथ्या मान्यताएँ छोड़ देते हैं और सत्य का स्वीकार कर लेते हैं। सत्य का स्वागत करने के लिए मन के द्वार खुले रहने चाहिए।

मन में जब सत्य का प्रकाश होता है तब भीतर से मधुर आवाज़ उठती है -

"अरिहंतो मह देवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।

जिणपन्नत्तं तत्तं... इस सम्मत्तं मए गहिअं।।"

- अर्हन्त परमात्मा ही सच्चे परमात्मा हैं,

- सुसाधु ही मेरे गुरु हैं, और

- सर्वज्ञप्रणित तत्त्व ही मेरा धर्म है!

मिथ्यात्व का सम्मोहन दूर होते ही, सम्यग्दर्शन होता है। सही वास्तविक तत्त्वों का दर्शन होता है। परोक्ष के विषय में निःशंक श्रद्धा पैदा होती है। आत्मा, परलोक, कर्म, स्वर्ग, नर्क, मोक्ष... वगैरह तत्त्वों की निःशंक प्रतीति होती है। बुद्धि निर्मल बनती है। शास्त्रों का अर्थघटन सही रुप से होता है। असत्य का आग्रह छूट जाता है।

चेतन, तेरे प्रश्न का समाधान हो गया होगा। समाधान पाना ही है। समाधान से शांति और समाधि प्राप्त होती है।

स्वस्थ रहे, यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : १७

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद!

तेरा प्रश्न हैः

'आप ने गत पत्र में मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के विषय में लिखा, समझ भी गया, परंतु यह मिथ्यात्व, क्या-क्या करने से जीव बाँधता है - यह बताने की कृपा करें।'

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के बंध हेतुओं के विषय में लिखना चाहता ही था, इतने में तेरा पत्र मिला, लिखने के लिए बैठ गया।

- चेतन, जो जीवात्मा तीर्थंकरों के प्रति शत्रुता रखता है, तीर्थंकरों की निंदा-अवर्णवाद करता है, वह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बाँधता है। हाँ, तीर्थंकरों के काल में, तीर्थंकरों के प्रति शत्रुता धारण करने वाले होते थे! श्रमण भगवान महावीर को गोशालक नहीं मिला था क्या? घोर शत्रुता धारण कर, उसने तीर्थंकर महावीरस्वामी को जलाकर मार डालने के लिए तो 'तेजोलेश्या' का प्रयोग किया था! भले, तीर्थंकर की मृत्यु नहीं हुई, परंतु शरीर पर असर तो हुआ ही था। वैसे जमालि मुनि भी भगवान का अवर्णवाद ही करते रहे थे न! भगवान के साथ वितंडावाद कर, भगवान को छोड़कर संघ से बाहर निकल गए थे और भगवान की निंदा करते फिरते थे!

- जो लोग, तीर्थंकर के धर्मशासन के मुनिओं की निंदा करते हैं, साधु-साध्वी का अपमान करते हैं, वे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बाँधते हैं। 'जैन

धर्म के साधु-साध्वी स्नान नहीं करते हैं, मलिन वस्त्र पहनते हैं... उनके शरीर से दुर्गंध आती है...छट्.... कौन जाए

उनके पास?' अजैन लोग इस प्रकार निंदा कर, अपने मिथ्यात्व को दृढ़ करते हैं। जैन लोग भी कभी-कभी आहार और विहार के विषय में साधु-साध्वी की निंदा करते हैं.... और मिथ्यात्व कर्म को बाँध लेते हैं।

- जिन मंदिर और जिन-प्रतिमा को 'यह तो पत्थर है, पाषाण है...' वगैरह तिरस्कारपूर्ण शब्द बोलनेवाले लोग मिथ्यात्व बाँध लेते हैं, यदि मिथ्यात्वी होते हैं तो मिथ्यात्व को दृढ़ कर लेते हैं! जिनमंदिर और जिनप्रतिमा की निंदा और अवर्णवाद करनेवालों का तो आज अपने देश में बड़ा संघठन बन गया है। उसमें साधु और साध्वी भी हैं! वे साधु-साध्वी अपने संघ को दृढ़ बनाने के लिए, उपदेश देते रहते हैं जिनमंदिर में नहीं जाने का और जिनप्रतिमा का दर्शन-पूजन नहीं करने का! इस लिए उन लोगों को जिनमंदिर और जिनप्रतिमा की निंदा करनी ही पड़ती है। उपदेशक तो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बाँधते ही हैं, हजारों श्रोताओं को भी वे गुमराह करते हैं और मिथ्यात्व मोहनीय के बंधन में निमित्त बनते हैं।

- मोक्षमार्ग से विपरीत उपदेश देनेवाले, संसार की आसक्ति बढ़ानेवाला उपदेश देनेवाले उपदेशक, मिथ्यात्वमोहनीय कर्म बाँधते हैं।

- ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का अपलाप करने से जीवात्मा मिथ्यात्वमोहनीय कर्म बाँधता है। 'ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है ही नहीं....' इस प्रकार मोक्षमार्ग का अपलाप करनेवाले लोग होते हैं दुनिया में!

- देवद्रव्य, यानी परमात्मा को समर्पित द्रव्य (सोना, चाँदी, रुपये वगैरह) कोई मनुष्य हड़प लेता है, अपने स्वयं के उपयोग में अथवा जिनमंदिर के अलावा दूसरे उपयोग में लेता है तो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बाँधता है।

- चेतन, तेरी शक्ति है देवद्रव्य के नाश को रोकने की, फिर भी तू नहीं रोकता है, उपेक्षा करता है तो मिथ्यात्वमोहनीय बाँधता है।

- वैसे कोई मनुष्य संघ की अवहेलना करता है, साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध संघ का तिरस्कार करता है... वह मिथ्यात्वमोहनीय कर्म बाँधता है। गर्व से उन्मत्त मनुष्य यदि बोलता है या सोचता हैः 'मुझे संघ

से क्या लेना-देना? मैं संघ के नियमों को नहीं मानता हूँ...।' वगैरह, तो संघ की आशातना होती है।

- 'मैं मोक्ष नहीं मानता हूँ, सिद्धात्माओं को नहीं मानता हूँ। कोई जीव सभी कर्मों से मुक्त हो ही नहीं सकता... और, यदि मोक्ष है... तो भी मैं वैसे मोक्ष को पसंद ही नहीं करता कि जहाँ कोई प्रवृत्ति ही नहीं होती है...।' इस प्रकार जो मनुष्य मोक्ष और सिद्धात्माओं की उपेक्षा करता है अथवा निंदा करता है... तो मिथ्यात्वमोहनीय कर्म बाँधता है।

- 'कोई सर्वज्ञ-केवलज्ञानी हो ही नहीं सकता। लोकालोक के सभी द्रव्यों के सभी-त्रैकालिक पर्यायों को जानना-देखना संभव ही नहीं... सर्वज्ञता की बात व्यर्थ है...' इस प्रकार मानने से, बोलने से मिथ्यात्वमोहनीय कर्म बँधता है।

- 'मुझे धर्मोपदेश नहीं सुनना है... मुझे धर्म का ज्ञान नहीं चाहिए... क्या काम आता है वह ज्ञान? मात्र समय और दिमाग बिगाड़ना है....। डाल देने चाहिए सभी शास्त्र समुद्र में...' ऐसा सोचने से या बोलने से मिथ्यात्वमोहनीय कर्म बाँधता है।

- चेतन, जो मनुष्य स्वार्थ से, लोभ से या अज्ञानता से असंयमी-मिथ्यात्वी और पापासक्त पाखंडी की... बाबा-जोगी की पूजा-सेवा करते हैं, वे भी मिथ्यात्वमोहनीय कर्म बाँधते हैं।

- जो तत्त्व जैसा हो, वैसा नहीं बताते हुए गलत बताता है... तो मिथ्यात्व मोहनीय बाँधता है... परिणाम स्वरूप अनेक जन्मों तक उस जीवात्मा को सम्यग् दर्शन की, सन्मार्ग की प्राप्ति नहीं होती है। मिथ्यात्व के प्रगाढ़ अंधकार में अनेक जन्मों तक भटकता रहता है।

भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरिची, भगवान ऋषभदेव के उपदेश से वैरागी बन साधु बन गया था। साधु जीवन के कठोर महाव्रतों का पालन करने में वह समर्थ नहीं रहा... उसने साधु जीवन का त्याग किया परंतु वापस गृहस्थ जीवन का स्वीकार भी नहीं किया। 'त्रिदंडी' के वेश की परिकल्पना कर, वह अणुव्रतों का पालन करने लगा। न गृहस्थ, न साधु! तीसरा ही मार्ग पसंद

किया। उपदेश देता था विशुद्ध मोक्षमार्ग का। कोई शिष्य बनने आता तो उसको अपना शिष्य नहीं बनाता था, भगवान ऋषभदेव के पास भेजता था।

एक दिन एक राजकुमार, मरिची के उपदेश से वैरागी बना और उसने कहाः 'मैं आपका शिष्य बनना चाहता हूँ।' मरिची ने कहाः 'तुम भगवान के शिष्य बनो।' राजकुमार कपिल ने कहाः 'नहीं, मैं तो आपका ही शिष्य बनना चाहता हूँ।' मरिची ने कहाः 'मैं तुझे मेरा शिष्य नहीं बना सकता।'

राजकुमार ने कहाः 'क्यों गुरुदेव! क्या आप के पास धर्म नहीं है? क्या भगवान ऋषभदेव के पास ही धर्म है?' मरिची ने

कहाः 'कपिल, धर्म तो मेरे पास भी है और भगवान के पास भी है....।'

मरिची के इस प्रत्युत्तर ने उस का अधःपतन किया। तीव्रतम मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बाँध लिया। चूँकि मरिची के पास सच्चा चारित्र धर्म नहीं था फिर भी उस ने कहाः 'मेरे पास धर्म है!' यह गलत प्रतिपादन करने से, उस ने जो कर्म बाँधा... उस कर्म ने उस को अनेक जन्मों तक सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं होने दिया। जिन शासन की प्राप्ति नहीं होने दी....। वह भटक गया।

कपिल को शिष्य बनाने का लोभ जग गया था उसके मन में। 'मैं कभी बीमार पड़ा, तो भगवान के साधु मेरी सेवा नहीं करेंगे....चूँकि मैं साधु नहीं हूँ....। उस समय मेरी सेवा करनेवाला कोई शिष्य होना चाहिए। यह कपिल मेरा शिष्य बनना चाहता है, बना दूँ उस को शिष्य! जब लोभ जगता है तब मनुष्य भूल कर बैठता है।

- चेतन, सद्गुरु की आशातना, अवर्णवाद करने से भी मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बँधता है। जो सद्गुरु के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते हैं, निंदा और अवर्णवाद करते हैं... वे मिथ्यात्व को तो प्रगाढ़ करते ही हैं दूसरे भी अनेक पाप कर्म बाँधते हैं, निकाचित पाप कर्म बाँधते हैं।

- मिथ्यात्व को बँधानेवाले ये सभी हेतु हैं...।' कर्मग्रंथ में और अन्य ग्रंथों में ये सारे हेतु बताए गए हैं। एक हेतु आज ही पढ़ने में आया! वह है 'असमीक्षितकारिता'! 'समीक्षा' यानी सोचना, अच्छे ढंग से सोचना!' 'असमीक्षा' यानी नहीं सोचना, गंभीरता से नहीं सोचना। जो मनुष्य सोचे

बिना, समझे बिना कार्य करता है, वह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म बाँधता है!

जिन-साधु-चैत्य-प्रतिमा-संघ-सद्गुरु... वगैरह की आशातना और अवर्णवाद के कार्य मनुष्य सोचे-समझे बिना ही करता है न! 'मैं जिनेश्वर वगैरह की निंदा करता हूँ, ग़लत बातें बोलता हूँ... इसका क्या परिणाम आएगा? कैसा कर्मबंध होगा? निंदा-तिरस्कार करने से मुझे कौन सा लाभ होगा?' क्या इस तरह सोचता है मनुष्य? नहीं सोचता है, नहीं समझता है, और मिथ्यात्व वगैरह अनेक पाप कर्म बाँध लेता है।

चेतन, सावधान रहना। ये सारे मिथ्यात्व के हेतु जो बताए, एक भी पाप नहीं होना चाहिए जीवन में। आजकल अपने संघ-समाज का वातावरण दूषित बना हुआ है। संघ-साधु और धर्म की निंदा व्यापक बनी है। चूँकि लोग ज्यादातर अज्ञानी हैं। आत्मा को जानते नहीं, कर्मसिद्धांत को जानते नहीं।

कुछ धर्मोपदेशक भी लोगों को उन्मार्ग बताते हैं जिन्होंने आगम ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया है, प्राचीन महान आचार्यों के धर्मग्रंथों का अध्ययन, मनन-चिंतन नहीं किया है... वैसे कुछ साधु उपदेशक बन गए हैं! कुछ धर्मग्रंथों के विद्वान, 'शास्त्रों का जो अर्थ मैं करता हूँ वही सही है...' ऐसा आग्रह रखते हुए, लोगों को अन्य साधु पुरुषों के प्रति द्वेषी बनाते जा रहे हैं।

कोई केवलज्ञानी अवधिज्ञानी महापुरुष अपने इस भरतक्षेत्र में हैं नहीं... किससे जा कर सत्य-असत्य का निर्णय करें? ऐसी परिस्थिति में चेतन, एक सावधानी रखना- किसी की निंदा नहीं करना, किसी पूज्य तत्त्व की आशातना नहीं करना।

'सम्यग्दर्शन' के प्रकाश में जीवनयात्रा करना है। हृदय में समताभाव रखना, मोक्ष की अभिरुचि बनाए रखना, संसार के प्रति वैराग्यवासना बनाए रखना और दुनिया के सभी जीवों के प्रति मैत्री भाव बनाए रखना। दुःखी जीवों के प्रति करुणा का स्रोत बहाते रहना। धर्म की ये मूलभूत बातें हैं।

सर्वज्ञ शासन के प्रति तेरी श्रद्धा अखंड, अविच्छिन्न बनी रहे, और तू मोक्षमार्ग पर निरंतर गति-प्रगति करता रहे - यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : १८

प्रिय चेतन,
धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद!

तेरा प्रश्न हैः

'मैं नहीं चाहता फिर भी क्रोध आ जाता है, मैं नहीं चाहता फिर भी अभिमान आ जाता है। माया-कपट पसंद नहीं करता हूँ फिर भी हो जाता है... और लोभ भी कुछ बढ़ता जा रहा है, ऐसा लगता है। ऐसा क्यों होता है और किस कर्म का उदय इस प्रकार मुझे सताता है?'

चेतन, मोहनीय कर्म का उदय ही इस प्रकार तुझे सता रहा है। तुझे ही अकेले को नहीं, सभी संसारवर्ती जीवों को सताता रहता है!

- मोहनीय कर्म के दो प्रकार हैंः 'दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय यानी मिथ्यात्व और चारित्र मोहनीय यानी कषाय।

- चारित्र मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता हैः 'कषाय और और नो-कषाय। पहले मैं तुझे 'कषाय' शब्द की परिभाषा बताता हूँ। दो शब्द 'कष' और 'आय' के संयोजन से 'कषाय' शब्द बना है। 'कष' का अर्थ है संसार, और 'आय' का अर्थ है लाभ। जिस से संसार का लाभ होता है, यानी संसार में भटकना पड़ता है, वे हैं कषाय!

- वे कषाय चार प्रकार के हैंः 'क्रोध, मान, माया और लोभ।

- पहले मैं इन चारों की संक्षिप्त परिभाषा लिखता हूँ।

- क्षमा नहीं रख पाना क्रोध है,

- सत्ता, धन वगैरह का अहंकार मान है,

- दूसरों को ठगना माया है, और

- असंतोष... आसक्ति लोभ है।

ये क्रोध, मान, माया और लोभ-चार कषाय, जीवों को संसार-परिभ्रमण

करवाते हैं, विशेष रूप से दुर्गतियों में भटकाते हैं। कषायों के कारण ही जीव दुःख, त्रास, वेदनाएँ पाता है। चेतन, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से जीवात्मा क्रोधी बनता है, अभिमानी बनता है, मायावी और लोभी बनता है।

- जब तू किसी मनुष्य को क्रोध-रोष करता हुआ देखे तब विचार करना - 'इसका क्रोध मोहनीय कर्म का उदय चल रहा है...।'

- जब तू किसी मनुष्य को अभिमान से उन्मत्त बना हुआ देखे तब

सोचना कि 'इस मनुष्य का अभी मान-मोहनीय कर्म का उदय चल रहा है।'

- जब तू किसी मनुष्य को माया-कपट करता हुआ देखे तब सोचना कि 'इस बेचारे को अभी माया-मोहनीय कर्म का उदय सता रहा है।'

- जब तू किसी मनुष्य का लोभ... आसक्ति में डूबा हुआ देखे तब विचार करना कि - 'यह मनुष्य अभी लोभ-मोहनीय कर्म के उदय से व्याकुल है।'

इस प्रकार सोचने से दूसरे कषायपरवश जीवों के प्रति तेरे मन में दुर्भावना पैदा नहीं होगी। तेरे मन का समाधान होगा। अन्यथा दूसरों के प्रति घोर दुर्भावनाएँ पैदा होती रहती है।

- 'मेरी माँ बहुत क्रोध करती है... अच्छी नहीं है,'

- 'मेरा भाई बहुत अभिमान करता है, अच्छा नहीं है...'

- मेरी बहन मायावी है... अच्छी नहीं है...'

- मेरे पिता लोभी हैं... कृपण हैं... अच्छे नहीं हैं...!'

इस प्रकार सोचने से परिवार के प्रति तेरे हृदय में स्नेह... प्रेम... करुणा या वात्सल्य के भाव नहीं रहेंगे। मैत्री भावना नहीं रहेगी। तू अनेक प्रकार के पाप कर्म बाँधेगा। विशेष तो मोहनीय कर्म बाँधेगा। मोहनीय कर्म के उदय से नया मोहनीय कर्म बँधता है!

चेतन, एक महत्व की बात कहता हूँ। जब तू क्रोध करे, अभिमानी बने, माया-कपट करे अथवा लोभ हो जाय तब तुझे इस प्रकार नहीं सोचना है कि 'क्रोध-मोहनीय कर्म के उदय से मुझे क्रोध आता है, मैं क्या करूँ?' तुझे इस प्रकार सोचना है कि - 'मैं क्रोध मोहनीय कर्म के उदय को विफल नहीं करता हूँ, आंतरिक मानसिक पुरुषार्थ से क्रोध का दमन या शमन नहीं करता हूँ, इसलिए मैं क्रोधी बनता हूँ।'

चेतन, मनुष्य यदि जागृत हो, 'मुझे क्रोध-मान-माया और लोभ के उदय को निष्फल बनाना है, उनको उदय में नहीं आने देना है...' ऐसा दृढ़ संकल्प हो तो वह कषाय विजेता बन सकता है! यानी पुरुषार्थ से वह कषायों का शमन कर सकता है।

- क्षमाधर्म के अभ्यास से क्रोध पर विजय पा सकता है।

- नम्रता-धर्म के अभ्यास से मान पर विजय पा सकता है।

- सरलता-धर्म के अभ्यास से माया पर विजय पा सकता है, और

- अनासक्ति-धर्म के अभ्यास से लोभ पर विजय पा सकता है।

यह आंतरिक पुरुषार्थ तभी हो सकता है, जब जीव का आत्मवीर्य उल्लसित हो। आत्मवीर्य तभी उल्लसित हो सकता है, जब उस जीव का 'वीर्यांतराय' कर्म का क्षयोपशम हो।

वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम नहीं हो, तो निराश हो कर बैठे नहीं रहना है, क्षयोपशम करने का पुरुषार्थ करना है। श्रद्धा से, ज्ञान से और तप से पुरुषार्थ कर सकता है। मनुष्य जीवन में ही यह पुरुषार्थ संभवित है। अन्य गतियों में कषायों पर विजय नहीं पा सकती है आत्मा!

नरक गति में मोहनीयकर्म - चारित्र मोहनीय कर्म बे-रोकटोक उदय में आता है, वहाँ जीव उस उदय को रोकने का पुरुषार्थ नहीं कर पाता है।

- तिर्यंच गति में भी चारित्र मोहनीय के उदय को भोगना ही पड़ता है।

- देवगति में देव भी कर्म के उदय के सामने लाचार होते हैं।

- मनुष्य गति में मनुष्य यदि चाहे तो वह कषायों का नाश कर सकता है! इसीलिए तो चेतन, तू कई महात्माओं को क्षमाशील देखता है, कई महानुभावो को विनम्र और सरल प्रकृति के देखता है। कई पुण्यशाली मनुष्यों को निर्लोभी और अनासक्त योगी देखता है!

जिन मनुष्यों को चेतना जागृत नहीं होती है वे कषायों के उदय को आधीन हो जाते हैं। छोटा-बड़ा निमित्त मिलते ही कषाय उदय में आ जाते हैं... और मनुष्य क्रोधी, मानी, मायावी... और लोभी बन जाता है।

परंतु सभी जीवों के कषाय समान रूप से उदय में नहीं आते हैं। कषाय चार प्रकार के होते हैं -

१. अनन्तानुबंधी,

२. अप्रत्याख्यानावरण,

३. प्रत्याख्यानावरण, और

४. संज्वलन.

अनन्तानुबंधी चार कषाय अति तीव्र होते हैं। ये कषाय मिथ्यात्वी जीवों को ही होते हैं। अलबत्ता, किसी को प्रगट रूप से होते हैं, किसी को प्रगट रूप में नहीं होते... परंतु निमित्त पाकर वे प्रगट रूप में आ जाते हैं। सोया हुआ साँप कितना शांत लगता है? वैसे जब अनन्तानुबंधी कषाय सोए हुए होते हैं तब मिथ्यात्वी मनुष्य भी शांत दिखता है। वास्तव में वह साँप जैसा ही होता है। ये अनन्तानुबंधी कषाय जीवात्मा को दुर्गति में ले जाते हैं। कषायों की आग जलती रहती है...शांत ही नहीं होती। मिथ्यात्व, कषायों की आग में घी डालता रहता है। ये कषाय, जीव को सम्यक्त्व नहीं पाने देते हैं।

मिथ्यात्व दूर होता है तब कषाय 'अनन्तानुबंधी' नहीं रहते, वे कषाय 'अप्रत्याख्यानावरण' बन जाते हैं, यानी कषायों की तीव्रता कम होती है। मिथ्यात्व दूर होता है, सम्यक्त्व-सम्यग् दर्शन का गुण प्रगट होता है...। यह सम्यक्त्व, जीवात्मा को श्रद्धावान बनाता है, सच्चे परमात्म तत्त्व की पहचान करवाता है, सच्चे गुरु तत्त्व की पहचान करवाता है और सच्चे धर्म का ज्ञान होने देता है। इस वजह से जीव के कषाय, अनंतानुबंधी की अपेक्षा मंद हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषायों की काल मर्यादा, ज्यादा से ज्यादा एक वर्ष की होती है। यानी एक वर्ष के भीतर ये कषाय उपशांत हो जाते हैं। पुनः उदय में आ सकते हैं... परंतु ज्यादा से ज्यादा एक वर्ष के लिए!

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होता है, तब थोड़ा सा भी प्रत्याख्यान मनुष्य नहीं कर पाता है। यानी तप और व्रत वह नहीं कर सकता है। ये अप्रत्याख्यान कषाय भी तीव्र होते हैं।

- तीसरा प्रकार है प्रत्याख्यानावरण कषायों का! ये कषाय जब उदय में होते हैं, मनुष्य सभी पापों का त्याग कर दीक्षा नहीं ले सकता है। चारित्र धर्म का स्वीकार नहीं करने देते हैं। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ ज्यादा से ज्यादा चार महीने टिकते हैं, बाद में उपशांत हो जाते हैं। ये कषाय श्रावकजीवन के व्रत-नियमों में अवरोध नहीं करते हैं।

- चौथा प्रकार है संज्वलन कषायों का। ये कषाय साधु पुरुषों को होते हैं जब कोई उपसर्ग (कष्ट) आता है, परिषह (भूख-प्यास वगैरह) आते हैं तब

थोड़े से कषाय उदय में आते हैं, वे संज्वलन कषाय कहे जाते हैं। ये कषाय ज्यादा से ज्यादा १५ दिन तक निरंतर उदित रह सकते हैं, बाद में उपशांत हो जाते हैं। ये कषाय श्रमण-श्रमणी को शुक्लध्यान नहीं करने देते हैं। धर्मध्यान में भी विक्षेप करते हैं। विशुद्धतर चारित्र का पालन नहीं करने देते।

चेतन, अब, ये चारों प्रकार के कषाय, किस-किस गति के कारण होते हैं, यह बता कर पत्र पूर्ण करूँगा।

- अनन्तानुबंधी कषाय नरक गति के कारण होने की वजह से, इन कषायों को भी 'नरक' कहे जाते हैं।

- अप्रत्याख्यानावरण कषाय तिर्यंच गति के कारण होने की वजह से ये कषाय 'तिर्यंच' कहे जाते हैं।

- प्रत्याख्यानावरण कषाय मनुष्य गति के कारण होते हैं, अतः ये कषाय 'मनुष्य' कहे जाते हैं।

- संज्वलन कषाय देवगति के कारण होते हैं, अतः संज्वलन कषाय 'देव' कहे जाते हैं!

तात्पर्य यह है - अनन्तानुबंधी कषाय के उदय में जीव मरता है, वह नरक में ही उत्पन्न होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में मरता है, वह तिर्यंच गति में जन्म पाता है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में मरता है, वह मनुष्य गति में जन्म पाता है और संज्वलन कषाय के उदय में जो मरता है, वह देवगति में जन्म पाता है।

चेतन, यह बात व्यवहार नय की अपेक्षा से कही गई है। मिथ्यादृष्टि जीव, अनन्तानुबंधी कषायवाले होते हैं, फिर भी अकाम निर्जरा से, उग्र तपश्चर्या कर, वे देवलोक में जाते हैं - ऐसा आगमों में पढ़ते हैं। इस विषय में अगले पत्र में कुछ लिखूँगा।

स्वस्थ रहे - यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : १९

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद!

तेरा प्रश्न हैः

'ये अनन्तानुबंधी वगैरह चार प्रकार के कषाय जो आपने बताए, उन कषायों को भौतिक... प्रत्यक्ष उपमाओं से समझाने की कृपा करेंगे? अदृश्य और आध्यात्मिक विषय, प्रत्यक्ष उपमाओं से विशेष स्पष्ट होता है।'

चेतन, 'कर्मग्रंथ' में १६ कषायों को १६ प्रकार की उपमाएँ दी गई हैं, मैं इस पत्र में लिखता हूँ उन उपमाओं को। सर्वप्रथम चार प्रकार के क्रोध की चार उपमाएँ लिखता हूँ।

१. संज्वलन क्रोध जलरेखा समान होता है।

जिस प्रकार पानी में लकड़ी से रेखा खींची जाय तो शीघ्र वह रेखा मिट जाती है, वैसे किसी भी निमित्त से साधु या साध्वी को क्रोध आ सकता है, परंतु शीघ्र वह क्रोध शांत हो जाता है।

२. प्रत्याख्यानावरण क्रोध रेणुरेखा समान होता है।

जिस प्रकार, धूल में लकड़ी से रेखा की जाय तो वह रेखा शीघ्र नहीं मिट सकती है, कुछ समय के बाद मिटती है, वैसे व्रतधारी श्रावक-श्राविका का क्रोध शीघ्र शांत नहीं होता है, परंतु कुछ समय के बाद शांत होता है।

३. अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वी रेखा समान होता है।

जिस प्रकार पृथ्वी फटती है, दरार पड़ जाती है, वह दरार शीघ्र नहीं मिटती है। धूल... पत्थर... कचरा वगैरह गिरता है... दीर्घकालावधि में वह दरार भरती है। वैसे समकितदृष्टि जीव का क्रोध शीघ्र शांत नहीं होता है। एक वर्ष की दीर्घ कालावधि में शांत होता है।

४. अनन्तानुबंधी क्रोध पर्वतरेखा समान होता है।

जिस प्रकार पर्वत में दरार पड़ती है, फट जाता है पर्वत, वह जुड़ता ही नहीं है, वैसे मिथ्यादृष्टि जीवों का क्रोध शांत होता ही नहीं है। कई जन्मों तक क्रोध की दरार बनी रहती है। क्रोध का काम यही है जीव-जीव के बीच

दरार डालना। अच्छे संबंधों के बीच दरार डालना।

चेतन, चारों प्रकार के क्रोध को कितनी वास्तविक उपमाएँ दी हैं तीर्थंकर भगवंतों ने? हुआ न तेरे प्रश्न का समाधान?

अब चारों प्रकार के मान कषाय की उपमाएँ लिखता हूँ।

१. संज्वल मान गुलाब के पौधे की लता जैसा होता है।

गुलाब का फूल चुनना है, लता को आसानी से झुका सकते हो और फूल

चुन सकते हो, वैसे साधु सरलता से अपना आग्रह छोड़ता है और विनम्र बनता है।

२. प्रत्याख्यानावरण मान काष्ठ जैसा होता है।

जिस प्रकार लकड़ा बड़ी मुश्किल से मुड़ता है, वैसे व्रतधारी श्रावक का अभिमान बड़ी मुश्किल से दूर होता है। वह शीघ्र झुक नहीं सकता है। उनका मान कषाय लकड़े जैसा होता है।

३. अप्रत्याख्यानावरण मान हड्डी जैसा होता है।

जिस प्रकार हड्डी शीघ्र मुड़ती नहीं है, बहुत ही ज्यादा प्रयत्न से उसको मोड़ी जा सकती है, वैसे व्रतरहित समकित दृष्टि जीव का अभिमान सरलता से दूर नहीं होता है, वह विनम्र नहीं बन पाता है। बहुत प्रयत्न से... दीर्घकाल के बाद नम्रता आती है उस में।

४. अनन्तानुबंधी मान पाषाण स्तंभ जैसा होता है।

क्या पाषाण स्तंभ कभी मुड़ता है? कभी झुकता है? वैसे मिथ्यादृष्टि मनुष्य का अभिमान कभी दूर नहीं होता है। वह झुकता नहीं है... अपने दुराग्रहों को नहीं छोड़ता है।

चेतन, मान कषाय को कैसी 'समुचित' उपमाएँ दी गई हैं? सामान्य बुद्धिवाला मनुष्य भी समझ सकता है। अब चारों प्रकार की माया की उपमाएँ लिखता हूँ।

१. संज्वलन माया बाँस की छड़ी जैसी होती है।

बाँस की छड़ी को मोड़ने के बाद तूर्त वह छड़ी सीधी हो जाती है, वैसे साधु-साध्वी के हृदय में माया-मोहनीय के उदय से कुटिलता वक्रता पैदा होती है, परंतु सुखपूर्वक शीघ्र ही वह दूर हो जाती है।

२. प्रत्याख्यानावरण माया गोमूत्रिका जैसी होती है।

गाय रास्ते पर से गुजरती है, उसकी मूत्रधारा टेढी-मेड़ी गिरती है। उस को 'गोमूत्रिका' कहते हैं। वह गोमूत्रिका पवन वगैरह से सूख जाती है, उसके बाद मिटती है, वैसे व्रतधारी श्रावक की माया जल्दी दूर नहीं होती है। यानी उसकी हृदय की कुटिलता दूर होने में कुछ समय लगता है।

३. अप्रत्याख्यानावरण माया बकरे के सींग जैसी होती है।

जिस प्रकार बकरे का सींग वक्र होता है, उस को सीधा करना कितना मुश्किल होता है? वैसे व्रतरहित समकितदृष्टि मनुष्य की हृदयगत कुटिलता दूर होना मुश्किल होता है। होती है दूर, परंतु समय लगता है।

४. अनन्तानुबंधी माया, बांस के मूल जैसी होती है।

बांस का धनीभूत मूल देखा है? इतना वह सख्त होता है कि आग से भी वह जलता नहीं है! उसकी वक्रता दूर नहीं होती है, वैसे मिथ्यादृष्टि जीवों के मन की कुटिलता, लाख उपाय करने पर भी दूर नहीं होती है।

चेतन, चारों प्रकार की माया को, स्थूल भौतिक उपमाएँ देकर अच्छी तरह समझाई गई है। भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों को भिन्न-भिन्न प्रकार की माया होती है।

अब, चार प्रकार के लोभ की उपमाएँ लिखता हूँ।

१. संज्वलन लोभ हल्दी के रंग जैसा होता है।

जिस प्रकार हल्दी का रंग, सूर्य के ताप से शीघ्र ही दूर हो जाता है, वैसे साधु-साध्वी का लोभ क्षणमात्र में दूर हो जाता है, ज्ञानसूर्य के ताप से!

२. प्रत्याख्यानावरण लोभ, दीपक के काजल जैसा है।

जिस प्रकार वस्त्र को काज़ल का दाग लग जाता है, वह दाग प्रयत्न से दूर होता है, वैसे व्रतधारी श्रावक का लोभ, कुछ विशेष प्रयत्न से दूर होता है।

३. अप्रत्याख्यानावरण लोभ, चिकने कीचड़ जैसा है।

जिस तरह वस्त्र पर लगा हुआ चिकना कीचड़, बहुत ही ज्यादा प्रयत्न से दूर होता है वैसे व्रत रहित समकितदृष्टि जीव

का लोभ (विशेष कर देवों का) बहुत ही प्रयत्न से दूर होता है।

४. अनन्तानुबंधी लोभ, पक्के रंग जैसा होता है।

वस्त्र पर लगा हुआ पक्का रंग, धोने पर भी नहीं जाता है... वस्त्र फट जाता है, पर रंग नहीं जाता है, वैसा लोभ मिथ्यादृष्टि जीवों का होता है।

मरने पर भी लोभ नहीं जाता है!

इन उपमाओं से कषायों की अति मंदता, तीव्रता और तीव्रतरता का खयाल आ जाता है। परंतु जीवों की अपेक्षा से जो बातें कहीं गई हैं, वे व्यवहारदृष्टि से समझना। कभी मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्या आग्रह शीघ्र दूर हो जाते दिखाई देते हैं... तो कभी समकित दृष्टि जीव के कदाग्रह, लाख उपाय करने पर भी दूर नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि का अभिमान, कभी-कभी शीघ्र दूर हो जाता है, समकित दृष्टि का नहीं!

भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत और बाहुबली के बीच भयानक युद्ध हुआ था... युद्धभूमि पर ही बाहुबली विरक्त बने थे। साधु बन गए थे। परंतु उनको मालूम था कि उनके ९८ भाई, उनके पहले ही साधु बन गए थे। साधु बने हुए बाहुबली ने सोचाः 'अभी मैं भगवान ऋषभदेव के पास जाऊँगा, तो मुझे मेरे छोटे ९८ भाइयों को वंदन करना पड़ेगा। परंतु यदि मैं केवलज्ञानी बनकर जाऊँगा तो मुझे छोटे भाईयों को वंदन नहीं करना पड़ेगा। चूँकि सर्वज्ञ पुरुष किसी को वंदन नहीं करते हैं! मैं सर्वज्ञ बन कर जाऊँगा भगवान के पास।'

वे युद्धभूमि पर खड़े रहे। 'मैं बड़ा भाई हूँ... मैं छोटे भाईयों को कैसे वंदना करूँ?' यह था उनका अभिमान। साधु को मान-कषाय 'संज्वलन' होता है। वह १५ दिन से ज्यादा नहीं टिकता है। परंतु बाहुबली मुनि को यह मान-कषाय एक वर्ष तक रहा था। तो क्या उन का मुनिपना चला गया था? नहीं, कषायों की कालमर्यादा व्यवहार दृष्टि से कही गई है।

- वैसे, जो कहा गया है कि 'अनन्तानुबंधी कषायवाले मिथ्यादृष्टि मर कर नरक में उत्पन्न होते हैं, यह बात भी व्यवहार दृष्टि से कही गई है। कई मिथ्यादृष्टि जीव मर कर देवगति में जाते हैं!

- प्रत्याख्यानावरण कषायवाले श्रावक (श्राविकायें भी) देवगति में जा सकते हैं!

- अप्रत्याख्यानावरण कषायवाले समकितदृष्टि जीव भी (मनुष्य) देवगति में जाते हैं और समकितदृष्टि देव, जिनको अप्रत्याख्यानावरण कषाय ही उदय में होते हैं, वे मनुष्यगति में भी उत्पन्न होते हैं!

- सम्यग्दृष्टि मनुष्य देवगति पाता है,

- सम्यग्दृष्टि देव मनुष्यगति पाता है,

- सम्यग्दृष्टि नारक मनुष्यगति पाता है,

- सम्यग्दृष्टि पशु-पक्षी देवगति पाते हैं!

इसलिए किस दृष्टि से कौन सी बात कही गई है - यह समझना बहुत ही आवश्यक है। नयों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। 'नय' अनेक बताये गए हैं -

- निश्चय नय और व्यवहार नय,

- दृव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय,

- ज्ञाननय, क्रियानय...

- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ़ और एवंभूत

- नयदृष्टि से हर शास्त्रवचन को समझना चाहिए।

- जिनवचन नयगर्भित होते हैं।

चेतन, कषायों के विषय में भी नय दृष्टि से सोचना-समझना ही आवश्यक है! तू नयवाद का अध्ययन करना। यदि संक्षेप में नयवाद को पढ़ना हो तो मैंने 'ज्ञानसार-विवेचन' के परिशिष्ट में नयवाद को लिखा है, नयवाद को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। एक बार पढ़ना।

चार कषायों के विषय में लिखा है इस पत्र में। अब नो-कषायों के विषय में लिखूँगा।

तू स्वस्थ रहे - यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २०

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद!

तेरा प्रश्न हैः

'कोई मनुष्य हँसता है, कोई रोता है। कोई मनुष्य खुश रहता है, कोई नाखुश। कोई मनुष्य भयाकुल रहता है... कोई निर्भय। कोई मनुष्य कुत्सित वस्तु देखकर नाक-भौं सिकुड़ता है... कोई स्वस्थ....। गुरुदेव, ये सारे मनोगत भाव सहज हैं या कर्मप्रेरित हैं?'

चेतन, ये सारे भाव कर्मप्रेरित हैं। मोहनीय कर्म से प्रेरित हैं। चारित्रमोहनीय कर्म के दो प्रकार बताए गए हैं - कषाय और नोकषाय। ये सारे मनोगत भाव, 'नोकषाय' कर्म से प्रेरित हैं।

'नो-कषाय' में 'नो' शब्द साहचर्यवाची है। कषाय के जो सहचर होते हैं, वे नो-कषाय कहलाते हैं। क्रोधादि कषायों के साथ ये नोकषाय उदय में आते हैं। कषायों के विपाक जैसा ही विपाक, ये नोकषाय बताते हैं।

अथवा, ऐसा भी कह सकते हैं कि कषायों के उद्दीपन से नो-कषाय पैदा होते हैं। ये नोकषाय नव हैं। इनके दो विभाग हैंः हास्य वगैरह ६, और तीन वेद।

- चेतन, कुछ लोग किसी कारण से हँसते हैं, कुछ लोग बिना कारण ही हँसते हैं। कोई हास्यजनक बात सुनते हैं तो हँसी आ जाती है। कोई हास्यजनक दृश्य देखते हैं, तो हँसी आ जाती है। कोई हास्यजनक बात पढ़ने से भी मनुष्य हँसता है, वैसे, बिना कुछ हास्यजनक देखे, सुने और पढ़े... कोई कोई मनुष्य हँसता है! देखे हैं न ऐसे लोग? पागल कहलाते हैं ऐसे लोग। कारण से या बिना कारण मनुष्य हँसता है, उसका अदृश्य कारण होता है हास्य-मोहनीय कर्म। बिना कारण कोई कार्य होता ही नहीं है। दृश्य कारण हो या मत हो, अदृश्य कारण 'कर्म' होता ही है।

- चेतन, जैसे 'हास्य' नाम का नो-कषाय है, वैसे 'रति' नामका दूसरा

नो-कषाय है। किसी निमित्त को पाकर अथवा बिना निमित्त, जीव आंतरिक खुशी का, प्रमोद का अनुभव करता है - जिसका मूलभूत कारण है 'रति' नाम का नो-कषाय। ज्यादातर लोग इष्ट की प्राप्ति होने पर, प्रिय की प्राप्ति होने पर प्रसन्न दिखाई देते हैं। अनिष्ट और अप्रिय का वियोग होने पर खुशमिज़ाज दिखाई देते हैं। कुछ लोग हर स्थिति में प्रसन्नचित्त रहते हैं! चित्तप्रमोद का प्रत्यक्ष कारण हो या नहीं हो, वे लोग आंतरिक प्रसन्नता अनुभव करते रहते हैं। 'रतिमोहनीय' कर्म का यह काम होता है!

- कुछ लोग 'अरति' नाम के नो-कषाय से प्रभावित होते हैं। नाखुश होने का, अप्रीति होने का कोई कारण हो या न हो, ये लोग प्रसन्नचित्त नहीं रह सकते। कैसी भी अच्छी बात हो, सुंदर वस्तु हो, प्रशस्त दृश्य हो या संयोग हो... ये लोग 'मूडलेस' आनंदरहित ही रहते हैं। उनके मुँह पर स्वाभाविक प्रसन्नता नहीं दिखाई देगी। 'अरति' नाम के नो-कषाय की वजह से ऐसी स्थिति बनती है जीवात्मा की।

- चेतन, कुछ लोगों को छाती पीटते, करुण क्रंदन करते... ज़मीन पर लोटते, दीर्घ निःश्वास डालते नहीं देखे हैं क्या? देखे हैं न? वे लोग ऐसा क्यों करते हैं? शोकसागर में क्यों डूबते हैं? इसका कारण है 'शोक' नामका नो-कषाय। जब इस नो-कषाय का उदय होता है तब प्रगट कारण हो या मत हो, जीवात्मा छाती पीटेगा, रुदन करेगा... आँसू बहायेगा।

- एक भाई ने मुझे कहाः 'मुझे घर से बाहर जाने में भय लगता है। घर में भी अकेला होता हूँ तब भय लगता है। क्या कारण होगा?' मैंने कहाः 'इसका मूल कारण है 'भय' नाम का नो-कषाय कर्म। इस कर्म का उदय होने पर, भय का निमित्त हो या मत हो, अपने ही विचारों से... कल्पनाओं से मनुष्य भयभीत होता है। भय के अनेक विचार आते हैं और वह गभराता रहता है। 'मुझे कोई गोली मार देगा तो? मुझे लगता है सपने में... कोई मेरा गला दबोच रहा है....। डाकू आकर मेरा धन ले जायेंगे तो? मुझे अकेला छोड़कर सभी स्वजन चले जाएँगे तो? मेरे पुत्र का अकस्मात हो जाएगा तो? मुझे कैंसर का रोग हो जाएगा तो? मरकर मुझे नरक में जाना पड़ेगा तो?...' इस प्रकार की कल्पनाएँ पैदा होती हैं और जीव भयभीत बना रहता

है।

- चेतन, कभी किसी मनुष्य को गटर में पड़ा हुआ देखकर, उसके प्रति जुगुप्सा हुई है क्या? किसी मनुष्य के शरीर में से दुर्गंध आती है, उसके प्रति जुगुप्सा हुई है क्या? किसी रोगी मनुष्य के शरीर में गंदा खून बहता है... पीप बहता है...

उसको देखकर तेरे मन में जुगुप्सा हुई है क्या? मरा हुआ चूहा देखकर, सड़ा हुआ मृतदेह देखकर... तेरे मन में जुगुप्सा पैदा हुई है क्या? अथवा, ऐसा कुछ भी देखे बिना, ऐसी कल्पनायें कर कर, जुगुप्सा करता रहता है क्या?

इसका मूल कारण जानता है क्या? 'जुगुप्सा' नामका नो-कषाय कारण होता है। यदि इस कर्म का उदय नहीं होगा तो, जुगुप्सा के प्रबल कारण-निमित्त सामने होते हुए भी तुझे जुगुप्सा नहीं होगी! तू घृणा नहीं करेगा। तेरा मन स्वस्थ रहेगा।

अब, तीन वेदों के विषय में समझाता हूँ। एक दिन तूने मुझे एकान्त पाकर पूछा था -

'गुरुदेव, मेरे मन में यौवनसभर सुंदर लड़कियों के प्रति... उनको देखते ही आकर्षण क्यों पैदा हो जाता है? संयोग और संभोग की इच्छा क्यों पैदा हो जाती है? कभी-कभी तो, कल्पना करने लगता हूँ सुंदर स्त्री की... कल्पना से ही विकार पैदा हो जाते हैं... मूढ़ बन जाता हूँ... और मैथुन क्रिया भी कर लेता हूँ....। निमित्त हो या मत हो... मन में स्त्री-संभोग की वासना जागृत हो जाती है।'

तेरे उस प्रश्न का प्रत्युत्तर आज लिखता हूँ।

स्त्री-संभोग की इच्छा... अभिलाषा पैदा होती है 'पुरुषवेद' नाम के नो-कषाय की वजह से। 'पुरुषवेद' नो-कषाय का जब जब उदय होता है तब स्त्री-सेवन की वासना जागृत होती है। जिस प्रकार शरीर में श्लेष्म-द्रव्य का प्रमाण बढ़ने से खट्टा द्रव्य खाने की इच्छा होती है वैसे!

यह पुरुष-वेद, तृण-आग के समान अल्पकालीन होता है। तृण घास में आग लगती है शीघ्र और बुझती है भी शीघ्र। वैसे पुरुष के मन में स्त्री-संभोग की इच्छा जागृत भी जल्दी होती है और संभोग से शांत भी

शीघ्र हो जाती है।

यह पुरुष-वेद, सभी पुरुषों में एक समान नहीं होता है। किसी जीव का पुरुष-वेद प्रबल होता है, किसी जीव का सामान्य प्रकार का होता है, किसी जीव का अति मंद होता है। जिस व्यक्ति का पुरुषवेद का उदय प्रबल होता है, स्त्री-संभोग की वासना अदम्य होती है... वह चाहते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता है। जब तक ऐसा व्यक्ति संभोग नहीं करता है, उसकी वासना शांत नहीं होती है।

जिस पुरुष का वेदोदय सामान्य होता है, वह तप से अथवा ज्ञान से अपने वेदोदय को शांत कर सकता है। संभोग की इच्छा का शमन कर सकता है। ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है और अविकारी महात्मा बन सकता है।

चेतन; पुरुषवेद के प्रबल उदय से ही नंदिषेण मुनि का, उग्र तपश्चर्या और ज्ञान-ध्यान के बावजूद भी, पतन हुआ था न? परंतु ज्यों ही वेदोदय समाप्त हुआ, पुनः चारित्र ग्रहण कर, वासनाओं पर पूर्ण विजय पाई थी।

दूसरा वेद है 'स्त्रीवेद'।

'स्त्री-वेद' नाम के नो-कषाय से स्त्री को पुरुष के प्रति आकर्षण होता है, पुरुष-संभोग की अभिलाषा उत्पन्न होती है। जैसे पित्त प्रकृतिवाले मनुष्य को मधुर द्रव्य की चाह रहती है।

स्त्री के मन में पुरुष के प्रति शीघ्र कामवासना पैदा नहीं होती हैं, परंतु वासना पैदा होने के बाद शीघ्र शांत भी नहीं होती है! जैसे-जैसे वह पुरुष का स्पर्श पाती जाती है वैसे-वैसे उसकी संभोग वासना बढ़ती जाती है। स्त्री की वासना वैसी आग है... जो जल्दी बुझती नहीं है।

परंतु जिस महिला का स्त्री-वेद का उदय प्रबल नहीं होता है, उसके मन में पुरुष की इच्छा कभी-कभी ही पैदा होती है। यदि वह बिना संभोग किए, तप से और ज्ञान से उस इच्छा को शांत करना चाहे, तो कर सकती है।

तीसरा वेद नपुंसक वेद है।

यह नोकषाय प्रबल होता है। इसका उदय होता है तब मनुष्य के मन में

स्त्री और पुरुष, दोनों के साथ संभोग करने की इच्छा पैदा होती है। इच्छा नहीं, तीव्र अभिलाषा पैदा होती है। दीर्घकाल तक यह अभिलाषा शांत नहीं होती है। स्त्री-संभोग पुनः पुनः करने पर भी उसको तृप्ति नहीं होती है।

चेतन; प्रत्येक संसारी जीव, किसी न किसी एक वेद के उदय का अनुभव करता है। यानी प्रत्येक जीव में यौन-वासना कम या ज्यादा प्रमाण में होती ही है। कोई जीव वासना को परवश बनकर जीता है, कोई जीव वासना पर विजय पाने के लिए जीता है।

मैथुन की यह वासना, चार गतियों में सब से ज्यादा मनुष्य में होती है।। देवों से भी ज्यादा। पशुओं से भी ज्यादा। इसलिए मनुष्य को अपनी मैथुन वासना पर संयम करना अति आवश्यक बताया गया है।

स्त्री और पुरुष, यदि उनका वीर्यांतराय कर्म का क्षयोपशम हो, उनका आत्मवीर्य उल्लसित हो, वे वेदोदय को निष्फल कर सकते हैं। यदि आत्मवीर्य पर्याप्त मात्रा में जागृत नहीं हुआ हो तो वेदोदय अपना प्रभाव बताएगा ही, संभोग करवाएगा ही।

चेतन, 'मोहनीय कर्म' को 'पाप कर्म' कहा गया है, परंतु एक अपेक्षा से हास्य मोहनीय, रति मोहनीय और पुरुष वेद-मोहनीय-ये तीन प्रकार 'पुण्य कर्म' कहे जा सकते हैं... चूँकि ये कर्म सुख का अनुभव करवाते हैं।

मोहनीय कर्म - चारित्र मोहनीय कर्म, जीव कैसे बाँधता है, यह बात आगे लिखूँगा। तू स्वस्थ रहे, यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २१

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद!

तेरा यह प्रश्न हैः

'कषाय-मोहनीय कर्म और नोकषाय-मोहनीय कर्म, जीव कैसे बाँधता है? प्रत्यक्ष दृष्टिपथ में आनेवाले मनुष्य जीवन और पशु जीवन पर, इन कषायों का और नो-कषायों का पूर्ण प्रभाव देखता हूँ...। प्रत्येक जीवात्मा कषाय-परवश और नो-कषाय परवश क्यों हैं?'

चेतन, कर्म से कर्मबंध होता है!

कषाय मोहनीय से और नोकषाय-मोहनीय के उदय से ही कषाय मोहनीय कर्म बँधता है, नोकषाय मोहनीय कर्म बँधता है! मन जब कषाय विवश बनता है तब कषायमोहनीय बाँधता है, मन जब-जब नोकषायविवश बनता है तब नोकषाय-मोहनीय बाँधता है। यानी हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा को बाँधता है। परंतु तीन वेद बाँधता है विषयों की विवशता से। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पाँच विषय हैं पाँच इंद्रियों के। इन विषयों में आसक्त मन वेद-नोकषायों को बाँधता है।

- जब-जब मन क्रोधी बनता है। कषायमोहनीय कर्म बंधता है,

- जब-जब मन अभिमानी बनता है, कषायमोहनीय कर्म बंधता है,

- जब-जब मन मायावी बनता है, कषाय मोहनीय कर्म बंधता है, और

- जब-जब मन लोभी बनता है, कषाय मोहनीय कर्म बंधता है।

हालाँकि दूसरे-दूसरे पाप कर्म भी बंधते हैं, परन्तु मुख्य रूप से यह कषाय मोहनीय बंधता है। इसका तात्पर्य यह है कि कषायों के उदय से कषायों का बंध होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो राग और द्वेष से कषायमोहनीय बंधता है। क्रोध और मान, द्वेष के दो रूप हैं, माया और लाभ, राग के दो रूप हैं। आत्मा के लिए सबसे ज्यादा खतरा इस राग और द्वेष से होता है। यह बात अभी नहीं लिखता हूँ। आज तो विशेष रूप से नोकषायों को जीव कैसे बाँधता है, यह लिखता हूँ।

- चेतन, कोई मनुष्य बहुत बोलता रहता है, व्यर्थ प्रलाप करता रहता है, तो हास्यमोहनीय कर्म बाँधता है।

- जो मनुष्य प्रयोजन से अथवा बिना प्रयोजन हँसता रहता है, वह मनुष्य हास्यमोहनीय बाँधता है। हँसने का तात्पर्य जोर-जोर से हँसना।

- किसी जीव का कुत्सित उपहास करने से भी हास्य मोहनीय बंधता है। दूसरों का उपहास करने से तो दूसरे पाप कर्म भी बंधते हैं।

- देश-विदेशों का दर्शन करने की उत्सुकता से रति-नोकषाय बंधता है।

- दूसरों के चित्त को आवर्जित-आकर्षित करने से रति-नो कषाय बंधता है।

- पाँच इंद्रियों के विषयों में रमणता होने से भी रति-मोहनीय कर्म बंधता है।

चेतन, हास्य और रति, सामान्य जीवन में उपादेय माने गए हैं। यानी सदैव खुश रहना और हँसते रहना, सुखी जीवन

के आवश्यक तत्त्व माने गए हैं, परंतु अध्यात्म के क्षेत्र में ये दोनों तत्त्व हेय माने गए हैं। वैषयिक रति और

हास्य, आत्मरमणता में बाधक तत्त्व हैं। रति-अरति के द्वंद्व में फसा हुआ मनुष्य, समत्व को सिद्ध नहीं कर पाता है। समत्व के बिना आत्मगुणों की पूर्णता नहीं पाई जा सकती है। हँसना और रोना-यह भी एक द्वंद्व है, जो मन की चंचलता को बढ़ावा देता है। मन को स्थिर नहीं होने देता है। इस दृष्टि से रति और हास्य को 'पाप-कर्म' कहे गए हैं।

'अरति' नाम का नोकषाय निम्न कार्यों से बंधता है -

- दूसरों की ईर्ष्या करने से,

- दूसरों की खुशी का नाश करने से,

- दुष्ट स्वभाव से, और

- दुष्ट कार्यों में प्रोत्साहन देने से।

दूसरे जीवों की खुशी देख कर जो जलता है, वह 'अरति' - कर्म बाँधेगा ही और उस अरति-कर्म का उदय आने पर उस जीव को खुशियाँ नहीं मिलेगी यह स्वाभाविक है, और तर्कयुक्त है।

दूसरे जीवों के आनंद का नाश करने से क्या आनंद मिलेगा जीव को? नहीं, अरति-कर्म बाँधकर, वह स्वयं के आनंद का ही नाश करता है।

दुष्ट स्वभाववाला मनुष्य अपने आसपास रहनेवाले स्नेही-स्वजनों को मानसिक कष्ट पहुँचाता रहता है। इससे वह 'अरति' कर्म बाँधता है और परिणामस्वरूप वह स्वयं मानसिक अशांति को मोल लेता है।

दुष्ट-परपीड़न के कार्यों में दूसरों को प्रेरित करनेवाला मनुष्य नहीं जानता है कि वह अपने आपकी मानसिक पीड़ा निश्चित कर रहा है। मन की सभी पीड़ाओं का मूल कारण यह 'अरति' नाम का नोकषाय है।

अब, 'शोक'- नोकषाय के बंधहेतुओं को जान ले।

- दूसरे जीवों को रुलाना,

- स्वयं शोकाकुल होना,

- स्वयं रोना, आँसू बहाना, छाती पीटना...

- दूसरों को शोक-संतप्त करना...

इन हेतुओं से शोक-मोहनीयकर्म बंधता है। जब वह कर्म उदय में आता है तब जीव शोकसागर में डूब जाता है।

चेतन, भय-मोहनीय के आश्रवों को जानकर, 'कुछ लोग क्यों हमेशा भयभीत रहते हैं?' इस प्रश्न का समाधान हो जाएगा!

- दूसरे जीवों को डराने से,

- स्वयं भयभीत रहने से,

- दूसरे जीवों को त्रास देने से,

- निर्दयता से दूसरों के साथ व्यवहार करने से,

भय-मोहनीय कर्म बंधता है।

'जुगुप्सा' मोहनीय कर्म, मनुष्य निम्न कारणों से बाँधता है -

- साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की निंदा करने से,

- चतुर्विध संघ की जुगुप्सा - घृणा करने से, और

- सदाचारों की जुगुप्सा - घृणा करने से।

बाँधा हुआ जुगुप्सा-मोहनीय कर्म जब उदय में आता है तब, बाँधनेवाला मनुष्य स्वयं जुगुप्सनीय बन जाता है! दुनियावाले उसकी जुगुप्सा करते हैं, घृणा करते हैं।

अब, तीन वेदों के बंधहेतु लिखता हूँ।

- जो पुरुष अपनी स्त्री में ही संतुष्ट रहता है, परस्त्री का त्याग करता है (वैसे जो स्त्री अपने पति में ही संतुष्ट रहती है, दूसरे पुरुषों का त्याग करती है) वह 'पुरुषवेद' बाँधता है।

- जिस स्त्री-पुरुष के कषाय तीव्र नहीं होते हैं, मंद होते हैं, वे लोग भी 'पुरुषवेद' बाँधते हैं।

- जो स्त्री-पुरुष वक्र-स्वभाव के नहीं होते हैं, सरल प्रकृति के होते हैं वे लोग 'पुरुषवेद' बाँधते हैं।

- जो स्त्री-पुरुष अच्छे होते हैं, गुणवान होते हैं, वे स्त्री-पुरुष 'पुरुषवेद'

बाँधते हैं। इस कर्म की वजह से वे 'पुरुष' बनते हैं। स्त्री की अपेक्षा पुरुष बनना श्रेष्ठ है। परंतु, दुनिया में हमेशा पुरुष कम रहे हैं, स्त्री की संख्या ज्यादा हो रही है।

- दूसरों के सुखों की ईर्ष्या करने से,

- दिन-रात विषाद में डूबे रहने से,

- वैषयिक सुखों में गाढ़ आसक्ति रखने से,

- असत्य बोलने से,

- अति वक्रता से, वक्रतापूर्ण व्यवहार से,

जीव 'स्त्री-वेद' कर्म बाँधता है। यह कर्म ही जीव को स्त्री-रूप प्रदान करता है। मनुष्य-स्त्री बनता है, पशु-स्त्री बनता है और देवलोक में देवी भी बन सकता है जीव।

'नपुंसक-वेद' नो कषाय के बन्धहेतु निम्न प्रकार हैं -

- स्त्री-संभोग और पुरुष-संभोग की तीव्र अभिलाषा,

- अति उग्र राग-द्वेष

- तीव्र कामुकता, और

- साध्वी-स्त्री का शीलभंग,

इन कारणों से 'नपुंसक-वेद' बंधता है।

चेतन, एक-एक नो-कषाय के बंधहेतु बताने के बाद, अब सामान्य रूप से 'चारित्र-मोहनीय' कर्म के बंधहेतु लिखकर, पत्र पूर्ण करूँगा।

- साधु-साध्वी की निंदा-गर्हा करने से,

- धर्मसन्मुख मनुष्यों की धर्माराधना में विघ्न करने से,

- जो मांसाहारी नहीं हैं, उन पर 'ये भी तो मांसाहारी हैं,' ऐसा आरोप मढ़ने से,

- जीवों की सुखप्राप्ति में और सुखभोग में अंतराय करने से,

- जो चारित्री नहीं है, अचारित्री हैं, उनके गुण गाने से और जो चारित्री

हैं, उनके चारित्र को दूषित करने से,

- दूसरे जीवों के कषायों का उद्दीपन करने से,

- दूसरे जीवों के नो-कषायों को जागृत करने से,

जीव चारित्र-मोहनीय कर्म बाँधता है।

चेतन, अन्य गृहस्थ विद्वानों की तुलना साधु-मुनि के साथ करते समय आजकल लोग होश में नहीं रहते। गृहस्थ की प्रशंसा करते हैं, साधु-मुनि की निंदा करते हैं! साधु-मुनि का मूल्यांकन विद्वत्ता की दृष्टि से नहीं किया जाता है, उनके गुणों से और चरित्र से किया जाता है। बहुत अच्छा भाषण देने के बाद गृहस्थ अभक्ष्य खाता है, रात्रिभोजन करता है... और अनेक व्यसनों का सेवन करता है - फिर भी 'इस विद्वान ने बढ़िया भाषण दिया! बहुत अच्छा बोलते हैं... 'वगैरह। साधु पुरुष बढ़िया प्रवचन नहीं दे पाता है, परंतु महाव्रतों का पालन करते हैं... त्याग और तप करते हैं, ज्ञान और ध्यान में निमग्न रहते हैं... यह सब नहीं देखते हुए - 'अपने साधु-मुनि अच्छा प्रवचन नहीं देते... पर्युषण में वो का वो कल्पसूत्र पढ़ते हैं... भाषा भी आधुनिक है...' वगैरह।

चारित्र मोहनीय कर्म बाँधने के कारण आज बहुत बढ़ गए हैं। चेतन, सावधान रहना। 'मुझे चारित्र मोहनीय कर्म नहीं बाँधना है,' ऐसा दृढ़ संकल्प करना।

तेरे प्रश्न का समाधान हो जाएगा, ऐसी आशा रखता हूँ।

तू स्वस्थ रहे, यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २२

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद!

तेरा यह प्रश्न हैः

'आपने मिथ्यात्व-मोहनीय के और चारित्रमोहनीय के जो बंध हेतु बताए, मैंने तीन बार पढ़ लिए। जीव क्यों ऐसी प्रवृत्तियाँ करता है? बिना सोचे, बिना समझे क्यों ऐसी पाप-प्रवृत्तियाँ करता रहता है? इन प्रवृत्तियों के परिणामों का विचार क्यों नहीं करता है? क्यों जड़ बुद्धि का बना रहता है? क्यों अज्ञान के घोर अंधकार में भटकता रहता है? कृपया गुरुदेव, मेरे मन का समाधान करें।'

चेतन, बुद्धि को जड़...और कुंठित करनेवाला एक कर्म है, उसका नाम है 'मति ज्ञानावरण' और अज्ञान के अंधकार में भटकानेवाला कर्म है 'श्रुत ज्ञानावरण'। 'ज्ञानावरण' कर्म के पाँच प्रकारों में पहला प्रकार है मतिज्ञानावरण और दूसरा प्रकार है श्रुतज्ञानावरण।

सामान्यतया मति, बुद्धि, प्रज्ञा, अभिनिबोध... समानार्थ शब्द हैं! विद्वानों ने एक-एक शब्द को व्याकरण शास्त्र से खोलकर, अलग-अलग अर्थ बताए हैं, परंतु लोगों के व्यवहार में वे अर्थ विशेष महत्व नहीं रखते हैं।

जब तक मिथ्यात्व का गहरा प्रभाव जीव पर होता है, जीवात्मा की बुद्धि निर्मल नहीं होती हैं। मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से बुद्धि तीव्र हो सकती है, परंतु मिथ्यात्व की वजह से वह गंदी होती है। मिथ्यात्व से प्रभावित बुद्धि मनुष्य को ही नहीं, देवों को भी उन्मार्गगामी बनाती है।

मिथ्यात्व का उदय नहीं हो, सम्यग् दर्शन का प्रकाश आत्मा को प्रकाशित करता हो, उस समय मतिज्ञानावरण कर्म का प्रबल उदय हो, उससे मति-बुद्धि प्रभावित हो, तो भी वह अल्प बुद्धि, मनुष्य को उन्मार्गगामी नहीं बनाएगी। अल्प बुद्धि होने की वजह से वह शास्त्रों की गहन बातें नहीं समझ पाएगा, ज्ञानी पुरुषों की गहन तात्त्विक बातें भी नहीं समझ पाएगा, परंतु उसकी श्रद्धा अविचल रहेगी। श्रद्धा के सहारे वह भवसागर को तैर सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व से प्रभावित तीव्र बुद्धि जीव को संसार सागर में डुबा देती है, जब कि सम्यक्त्व से प्रभावित मंद बुद्धि भी जीव को संसार सागर से पार लगा सकती है।

'मतिज्ञानावरण' के साथ-साथ 'श्रुतज्ञानावरण' को समझाऊँगा। चूँकि

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान साथ-साथ रहते हैं। कहा गया है आगम ग्रंथों में - 'जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाणं।' परस्पर सापेक्ष हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। जैसे ये दो ज्ञान सापेक्ष हैं वैसे उसके आवरक कर्म भी परस्पर सापेक्ष हैं। जितना मतिज्ञानावरण प्रबल होगा उतना श्रुतज्ञानावरण प्रबल होगा। जितना श्रुतज्ञानावरण मंद होगा, उतना मतिज्ञानावरण मंद होगा।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की पाँच बातें समान होती हैंः स्वामी, काल, कारण, विषय और परोक्षता।

- जो मतिज्ञान का स्वामी होता है, वही श्रुतज्ञान का भी स्वामी होता है,
- जितना मतिज्ञान का स्थितिकाल होता है, उतना ही श्रुतज्ञान का होता है,
- मतिज्ञान इंद्रिय निमित्तक होता है, श्रुतज्ञान भी इंद्रिय निमित्तक होता है,
- जैसे मतिज्ञान सर्व द्रव्यविषयक होता है वैसे श्रुतज्ञान भी होता है,
- जैसे मतिज्ञान परोक्ष होता है वैसे श्रुतज्ञान भी परोक्षज्ञान होता है,

फिर भी प्राथमिकता मतिज्ञान की होती है, श्रुतज्ञान दूसरे नंबर में आता है। मति के बिना श्रुतज्ञान संभव नहीं है। श्रुतज्ञान के बिना मतिज्ञान हो सकता है! इसी दृष्टि से पहला मतिज्ञान कहा गया, दूसरा श्रुतज्ञान। स्वामी वगैरह पाँच बातें समान होने पर भी, दोनों ज्ञान के लक्षण भिन्न हैं।

चेतन, दो ज्ञान में कैसी भिन्नता है, यह भी बताता हूँ-

- दोनों के लक्षण भिन्न हैं- जिससे योग्य विषय का मनन होता है, वह मतिज्ञान कहलाता है, और श्रवण को श्रुतज्ञान कहा जाता है।

- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है।

- मतिज्ञान के २८ भेद हैं, श्रुतज्ञान के १४ भेद हैं।

- मतिज्ञान साक्षर और निरक्षर दो प्रकार का होता है, श्रुतज्ञान मात्र साक्षर ही होता है।

- श्रुतज्ञान मात्र श्रोत्रेंद्रिय-सापेक्ष होता है, मतिज्ञान सभी इंद्रियों से होता है।

- मतिज्ञान मूक होता है, श्रुतज्ञान वाचाल होता है!

चेतन, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कहाँ-कहाँ समान हैं और किस-किस अपेक्षा से भिन्न हैं, यह बात प्रासंगिक समझ कर लिखी हैं। कुछ बातें तू नहीं समझ पाएगा, परंतु समझने की जिज्ञासा पैदा होगी तो तू अवश्य समझने का प्रयत्न करेगा।

अब मैं, 'मतिज्ञानावरण' कर्म के प्रभावों को बताता हूँ। परंतु इसके पूर्व मैं तुझे बता देना चाहता हूँ कि जिस जीव का जितना यह कर्म तीव्र, मंद और

मध्यम कोटी का होगा, उसी प्रकार उसके प्रभाव होंगे। एक मनुष्य का 'मतिज्ञानावरण' मंद होगा तो उसके प्रभाव मंद होंगे। दूसरे मनुष्य का यह कर्म तीव्र होगा तो उसके प्रभाव प्रगाढ़ और प्रबल होंगे। यानी मनुष्यों की बौद्धिक भूमिका, इस मतिज्ञानावरण कर्म पर आधारित होती है।

- किसी मनुष्य की बुद्धि बहुत अच्छी है, तीव्र है, तो समझना कि उस मनुष्य का मतिज्ञानावरण कर्म मंद है,

- किसी मनुष्य की बुद्धि सामान्य है, मध्यम कक्षा की है, तो समझना कि उस मनुष्य का मतिज्ञानावरण कर्म प्रगाढ़ भी नहीं है, मंद भी नहीं है, मध्यम कोटि का है।

- किसी मनुष्य में बुद्धि जैसा तत्त्व ही नहीं दिखे, संपूर्णतया मूर्ख है, तो समझना कि उसका मतिज्ञानावरण कर्म प्रबल है, प्रगाढ़ है।

दूसरी बात-

जीवन में सदाकाल यह कर्म एक-समान नहीं भी रहता है। बचपन में मूर्ख लड़का यौवन में बुद्धिमान बनता है न? क्यों? बचपन में उस बच्चे का मतिज्ञानावरण कर्म प्रगाढ़ होता है तो मूर्खता होती है, यौवन में यह कर्म प्रगाढ़ नहीं रहता है तो बुद्धिमत्ता होती है।

यह कर्म बादल जैसा है! कभी घनघोर होता है बादल... कभी सामान्य होता है बादल! वैसे, कभी सुबह में बुद्धि काम नहीं करती है, दोपहर में अथवा शाम को, या दूसरे दिन बुद्धि काम करती है! मतिज्ञानावरण कर्म पतला पड़ जाता है तब बुद्धि के चमत्कार देखने को मिलते हैं।

- जिस मनुष्य का मतिज्ञानावरण कर्म पतला-मंद-मंदतर होता है वह मनुष्य, पहले नहीं देखे हुए, नहीं सुने हुए और नहीं सोचे हुए अर्थ को विशुद्ध रूप से ग्रहण करता है अपनी तीव्र बुद्धि से। परंतु जिस मनुष्य का यह कर्म प्रबल प्रगाढ़ होता है वह इस प्रकार अर्थ ग्रहण नहीं कर सकता है।

- जिस मनुष्य का मतिज्ञानावरण कर्म प्रबल और प्रगाढ़ होता है वह मनुष्य कष्टप्रद बड़े-बड़े कार्यों का भार वहन नहीं कर सकता है। धर्म-अर्थ और काम- इस त्रिवर्ग का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों का सार नहीं ग्रहण

कर सकता है। इहलोक और परलोक में सुखदायिनी बुद्धि उसके पास नहीं होती है।

- विवक्षित कार्य में नहीं लगा सकता है, मन लगाकर परमार्थ को नहीं जान सकता है। बौद्धिक कार्यों में सफलता नहीं पा सकता है और इसी वजह से वह विद्वानों में प्रशंसापात्र नहीं हो पाता है।

- अनुमान, हेतु और दृष्टांत के द्वारा अर्थ को सिद्ध नहीं कर सकता है। अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फल देनेवाली बुद्धि उसको प्राप्त नहीं होती है। नहीं वह भौतिक सुख पाता है, नहीं मोक्ष का सुख पाता है।

चेतन, मतिज्ञानावरण कर्म का उदय प्रबल होता है तो-

- बीज बुद्धि,

- पदानुसारिणी बुद्धि, और

- कोष्ठ बुद्धि

ये तीन बुद्धि का आविर्भाव नहीं हो पाता है। तीन प्रकार की उत्कृष्ट बुद्धि को संक्षेप में समझाता हूँ।

- बीज की भाँति विविध अर्थबोधरूप महावृक्ष को पैदा करनेवाली होती है बीज बुद्धि। गणधर भगवंतों में बीज बुद्धि होने से वे तीर्थंकर परमात्मा से केवल 'त्रिपदी' (तीन पदः उपन्नेइवा, विगमेइवा, धुवेइवा) सुनकर, उसके आधार पर समग्र द्वादशांगी की रचना करते है। बीज बुद्धिवाले महापुरुषों को अर्थप्रधान एक ही वाक्य मिलना चाहिए। उसके आधार पर उन्हें अनेक अर्थों का बोध हो जाता है।

- पदानुसारिणी बुद्धिवाले महापुरुष, गुरु के मुँह से एक सूत्र सुनते हैं, शेष अनेक पद उनकी बुद्धि से स्वयंभू प्रगट हो जाते है। अनेक पदों की स्फुरणा उन्हें सहज रूप से हो जाती है।

- कोष्ठ यानी कोठार... भण्डार... गोदाम। कोठार में रखे हुए अनाज की भाँति इस 'कोष्ठ बुद्धि' वाले महापुरुष, जो सूत्रार्थ पढ़े हों, उसे वे दीर्घकाल तक सुरक्षित रख सकते है। वे भूलते नहीं। कोष्ठ बुद्धिवाले पुरुष का ज्ञान ज्यों का त्यों बना रहता है, बिगड़ता नहीं है, नष्ट नहीं होता है।

चेतन, मतिज्ञान की ये अद्‌भुत बुद्धियाँ हैं। मतिज्ञानावरण कर्म, इन बुद्धियों के प्राकट्य में अवरोधरूप है। परंतु यह तो बड़ी बात है... बहुत कम मनुष्यों को मतिज्ञानावरण कर्म का ऐसा क्षयोपशम होता है कि ऐसी बुद्धि प्राप्त होती है।

इस कर्म का जब अति प्रगाढ़ उदय होता है तब-

- प्रगाढ़ अंधकार में कुछ स्पर्श होने पर जीव को 'यह कुछ है,' ऐसा ज्ञान भी नहीं होता है। उसको मालूम नहीं होता है कि 'किस चीज़ का स्पर्श हुआ। वह एकाग्रता से निर्णय भी नहीं कर सकता है कि 'यह स्पर्श रस्सी का है, साँप का नहीं।'

- मान लें कि एकाग्रता से वह निर्णय कर सकता है, परंतु वह निर्णय को याद नहीं रख पाता है। अपने किए हुए निर्णय की स्मृति नहीं आती है। भूल जाता है।

- या तो वह वस्तु को जानता नहीं है, जानता है तो उस वस्तु के रूप, रंग मोटापन... वगैरह वैविध्य को नहीं जानता है। वह भी जानता है, तो याद नहीं रहता है... स्मृति नहीं रहती है।

- वस्तु अथवा व्यक्ति की संख्या याद नहीं रहती है।

- वस्तु के प्रकार... विभाग वगैरह जान नहीं सकता है। जानता है तो याद नहीं रहता है।

- वस्तु को या व्यक्ति को शीघ्र जान नहीं पाता है। जानता है... तो देरी से जान पाता है। जानने के बाद भूल जाता है।

- किसी हेतु से वह किसी बात का निर्णय नहीं कर सकता है।

- कभी संदिग्ध अर्थ करता है... कभी असंदिग्ध अर्थ करता है... यदि मतिज्ञानावरण का कुछ क्षयोपशम होता है तो!

चेतन, किसी मंदबुद्धि मनुष्य को देखकर, जब वह तेरी बात नहीं समझता हो, उस पर क्रोध नहीं करना। सोचना कि 'इस बेचारे को मति ज्ञानावरण कर्म सता रहा है।'

- जब तेरे लड़के को कोई बात नहीं आती है, बार-बार भूल जाता है,

तब तू उसका तिरस्कार करता है न? मत करना तिरस्कार। उस बच्चे का क्या दोष? मतिज्ञानावरण कर्म उस पर हावी है।

- तेरी सच्ची और सही बात भी तेरी पत्नी नहीं समझती है, उसकी बुद्धि में नहीं उतरती है... तू उस पर कोपायमान हो जाता है न? मत करना कोप। उस पर मिथ्यात्व-मोहनीय और मतिज्ञानावरण-दो कर्मों का प्रभाव है। वह नहीं समझेगी तेरी सच्ची भी बातें।

- जिनोक्त-सर्वज्ञभाषित धर्म को समझने के लिए, मिथ्यात्व मोहनीय का क्षयोपशम जैसे अपेक्षित है, वैसे मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम भी अपेक्षित है। धर्म तत्त्व को समझने के लिए अच्छी बुद्धि चाहिए।

- मतिज्ञानावरण से मतिमूढ़ बना हुआ जीव, अपनी अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का भेद नहीं समझ पाता है, प्रवृत्तियों के परिणामों का विचार नहीं कर पाता है... और अज्ञान के घोर अंधकार में भटकता रहता है।

चेतन, क्षेत्र भौतिक हो या आध्यात्मिक, कार्य संसार का हो या धर्म का, सर्वत्र 'बुद्धि' चाहिए। बुद्धि से ही मनुष्य यश पाता है, कार्य में सफलता पाता है। अभयकुमार, चाणक्य, बीरबल... वगैरह के नाम देश के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से क्यों लिखे गए? बुद्धि थी उनके पास। इसलिए 'मतिज्ञानावरण कर्म' बाँधने की प्रवृत्तियाँ नहीं करना, तोड़ने का पुरुषार्थ करना।

तू कुशल रहे, यह मंगल कामना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २३

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद!

तेरा प्रश्न हैः

'मेरे बड़े भाई का लड़का बुद्धिमान है। कभी-कभी घर की समस्या को सुलझा देता है... जिस समस्या को हम लोग नहीं सुलझा पाते है। परंतु इस

लड़के को पढ़ना पसंद नहीं है। बड़ी मुश्किल से दसवीं कक्षा पास की है। आगे वह पढ़ना नहीं चाहता है। ऐसा क्यों होता है?'

चेतन, इस प्रश्न का समाधान सरल है। उस लड़के का 'मतिज्ञानावरण' कर्म का क्षयोपशम अच्छा है इसलिए उसकी बुद्धि तेज है। परंतु उसके 'श्रुतज्ञानावरण' कर्म का जितना क्षयोपशम होना चाहिए, उतना नहीं है, इसलिए पढ़ने की इच्छा नहीं होती है।

चेतन, आज मैं 'श्रुतज्ञानावरण' कर्म के विषय में यह पत्र लिखता हूँ। इस कर्म के उदय से जीवात्मा किस-किस प्रकार प्रभावित होता है, किस किस प्रकार से जीव अज्ञानी होता है, यह बताता हूँ।

- जब श्रुतज्ञानावरण कर्म अति प्रगाढ़ होता है, तब जीव को अक्षरज्ञान नहीं होता है। लिपि ज्ञान नहीं होता है। हंसलिपि, भूतलिपि, यक्षीलिपि... वगैरह अठारह प्रकार की लिपि का ज्ञान नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम के आधार पर एक-दो या पाँच-दस... लिपि का ज्ञान होता है।

वैसे अ...आ...इ-ई से ह तक जो व्यंजन (स्वर भी) होते हैं, इन व्यंजनों का ज्ञान नहीं होता है। कम-ज्यादा होता है।

पाँच इंद्रियों और मन के माध्यम से जो ज्ञान होना चाहिए, वह नहीं होता है। इस कर्म के क्षयोपशम से कम-ज्यादा ज्ञान होता है। अक्षरों के माध्यम से जो ज्ञान होता है वह 'अक्षरश्रुत' कहा जाता है। इस कर्म के उदय से 'अक्षरश्रुत' प्राप्त नहीं होता है।

शब्द श्रवण से अथवा रूप दर्शन वगैरह से अर्थ की प्रतीति करवानेवाला अक्षरात्मक ज्ञान, यह कर्म नहीं होने देता है।

- जब यह कर्म प्रबल होता है तब हाथ-पैर की चेष्टा से अथवा छींक, उबाई वगैरह से होनेवाला ज्ञान भी नहीं होता है जीव को।

- अतीत काल का और भविष्यकाल का चिंतन करनेवाली दीर्घ दृष्टि प्राप्त नहीं होने देता है।

- अपने स्वयं के शरीर के पालन के लिए विचार करनेवाली, इष्ट और प्रिय विषय में प्रवर्तित करानेवाली, अनिष्ट और अप्रिय विषय से निवर्तित करानेवाली संज्ञा को, यह कर्म आवृत करता है।

- मिथ्यादृष्टि जीव हो या सम्यग्दृष्टि जीव हो, यह कर्म उसको शास्त्रज्ञानी नहीं बनने देता है। उपदेशों को समझने नहीं देता है।

- यह कर्म, किसी मनुष्य को सरल और सुबोध तत्त्वज्ञान भी नहीं पाने देता है, किसी मनुष्य को सरल-सुबोध तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है परंतु दुर्बोध और कठिन तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होने देता है।

- किसी मनुष्य को वैदिक दर्शन के, बौद्ध दर्शन के, चार्वाक दर्शन के, और दूसरे दर्शनों के अध्ययन में रस होता है, परंतु जैन दर्शन के अध्ययन में रस नहीं होता है। कारण होता है श्रुतज्ञानावरण कर्म।

- किसी मनुष्य को कलाओं का ज्ञान पाने में अभिरुचि होती है, परंतु विज्ञान के (सायंस के) विषय में रुचि नहीं होती है। कारण होता है यह श्रुतज्ञानावरण कर्म।

- किसी को मात्र एक पद का ही ज्ञान होता है, किसी को अनेक पदों का ज्ञान होता है, किसी को एक विषय का ज्ञान होता है, किसी को अनेक विषयों का ज्ञान होता है, किसी का ज्ञान अल्प होता है, किसी का ज्यादा होता है... ऐसा क्यों होता है? श्रुतज्ञानावरण कर्म की वजह से होता है।

'माष तुष' नाम के मुनिराज को 'मा रुष, मा तुष...' ये दो पद बारह वर्ष तक याद नहीं हो पाए थे...क्यों? श्रुतज्ञानावरण कर्म उतना प्रबल था।

शोभन मुनि भिक्षा लेने गए और भिक्षा ले कर आए- इतने समय में २४ तीर्थंकरों की अर्थगंभीर स्तुति, संस्कृत भाषा में

बना दी। यह क्या था? श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम।

तीन वर्ष की छोटी सी उम्र में वज्रस्वामी ने साध्वीजी के मुँह से सुनते ११ शास्त्र मुखपाठ कर लिए थे। श्रुतज्ञानावरण कर्म का कैसा अद्‌भुत क्षयोपशम था।

चेतन, वर्तमान काल में मैं ऐसे मुनिवरों को जानता हूँ कि जो दिनभर

पढ़ने की महेनत करते हैं, फिर भी पूरा एक श्लोक याद नहीं कर पाते हैं। जब कि ऐसे मुनि भी हैं जो दिन में ३००/४०० श्लोक याद कर लेते हैं। कारण होता है श्रुतज्ञानावरण कर्म। किसी का प्रगाढ़ और किसी का मंद।

- ज्ञान पाने के सभी अनुकूल संयोग होने पर भी, जो ज्ञान नहीं पाते हैं, ज्ञान पाने की इच्छा ही जागृत नहीं होती है, इसका कारण यही कर्म है।

- एक विद्वान एक विषय को दो-तीन घंटे तक समझा सकता है, दूसरा विद्वान पूरा एक घंटा भी नहीं समझा सकता है। कारण यही श्रुतज्ञानावरण कर्म होता है।

चेतन, जो लोग इस कर्म को नहीं जानते हैं, नहीं समझते हैं, वे लोग कितनी गंभीर भूल करते हैं, एक-दो घटनाओं के द्वारा बताता हूँ।

- एक परिवार में दो बच्चे हैं। एक लड़का है, एक लड़की है। दोनों स्कूल में पढ़ते हैं। लड़की होशियार है, अच्छी पढ़ाई करती है और अपनी कक्षा में प्रथम नंबर से पास होती है। लड़का भी पढ़ता है परंतु वह पहले नंबर से पास नहीं होता है, कभी-कभी फेल भी हो जाता है। इन बच्चों की माँ लड़के को, लड़की के सामने डाँटती है, उस का तिरस्कार करती है। लड़की की प्रशंसा करती है। स्नेही-स्वजनों के सामने भी यही बात करती है।

लड़का बहुत व्यथित हो गया। वह माता से दूर रहने लगा। दोस्तों के साथ बाहर फिरने लगा। दोस्तों के कारण व्यसनी बना...। 'मैं पढ़ता हूँ तो भी मम्मी मेरी प्रशंसा नहीं करती है... दिनभर 'तू पढ़ता नहीं है... तू पढ़ता नहीं है...' बस, एक ही रट लगा रखती है... मुझे पढ़ना ही नहीं है... मम्मी की लड़की पढ़ती है न? वह भी अभिमानी बन गई है...।' ऐसे विचार करने लगा। उसकी ज़िंदगी कैसी बनेगी?

माता ने इस 'श्रुतज्ञानावरण कर्म' के माध्यम से लड़के के विषय में नहीं सोचा। 'लड़की का श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम अच्छा है, उसकी अपेक्षा लड़के का क्षयोपशम मंद है। होता है ऐसा, सभी का क्षयोपशम समान नहीं होता है। फिर भी लड़का, इस कर्म का क्षयोपशम कर सके, वैसा मार्गदर्शन उसको प्रेम से देती रहूँ...।' ऐसा चिंतन वह नहीं कर पाई और उसने अपने

लड़के को खो दिया।

- एक गुरु के अनेक शिष्य थे। गुरु स्वयं शिष्यों को पढ़ाते थे। जो शिष्य अच्छी पढ़ाई करते थे उनकी प्रशंसा करते रहते और जो शिष्य अच्छी पढ़ाई नहीं कर पाते, उनकी निंदा करते, तिरस्कार करते। परिणाम यह आया कि, जो शिष्य पढ़ाई नहीं कर पाते थे, वे गुरु को छोड़कर अन्यत्र चले गए। गुरु ने श्रुतज्ञानावरण कर्म के माध्यम से नहीं सोचा।

- एक लड़की कोलेज के अंतिम वर्ष में पढ़ती थी। पढ़ती थी मन लगा कर, फिर भी तीन बार अनुत्तीर्ण हो गई। माता-पिता हमेशा उस का तिरस्कार करते...निंदा करते...'भटकती रहती है... पढ़ाई नहीं करती है... मूर्ख है... तीन तीन बार 'फेल'- अनुत्तीर्ण हो गई... कोई लड़का तुझे पसंद नहीं करेगा...' वगैरह बोलते रहते। लड़की हीनभावना से भर गई। यदि माता-पिता, कर्म के सिद्धांत से अपने मन का समाधान करते तो यह नौबत नहीं आती।

पढ़ने की प्रेरणा देनी चाहिए, परंतु प्रेम से, वात्सल्य से देनी चाहिए। जिसके मन में समाधान होता है, वे लोग कभी आक्रोश नहीं करते हैं। वे शांति से, समता से प्रेरणा देते हैं। जिनको मानसिक समाधान नहीं होता है, वे बात-बात में आक्रोश करते हैं और वातावरण को क्लेशमय करते हैं। समाधान करते चलो -

- 'यह लड़का बहुत अच्छा पढ़ता है, चूँकि इसका श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम अच्छा है।'

- 'यह लड़का अच्छी पढ़ाई नहीं कर पाता है, पढ़ाई करने पर भी परीक्षा में पास-उत्तीर्ण नहीं होता है...। इसका श्रुतज्ञानावरण कर्म का उदय है। क्या करे बेचारा?'

- 'यह लड़का धार्मिक ज्ञान पाता ही नहीं है, दुनियाभर की किताबें पढ़ता है, परंतु अपने जैन धर्म की किताब नहीं पढ़ता है...। क्या करें? समझाते हैं उसको, फिर भी नहीं पढ़ता है। उसके श्रुतज्ञानावरण कर्म का उदय है।'

- 'इस छोटे मुन्ने को अच्छी स्कूल में 'डोनेशन' देकर भर्ती करवाया है, परंतु अभी उसको 'अ से ह' तक बाराखड़ी या मूलाक्षर भी नहीं आती हैं... बेचारे का श्रुतज्ञानावरण कर्म का कैसा उदय है?'

यदि चेतन, इस प्रकार समाधान करने लगेगा तो तेरे मन में किसी के प्रति द्वेष और तिरस्कार नहीं पैदा होगा। तू उपाय सोचेगा इस कर्म का क्षयोपशम करने का। तू उपचार करेगा, इस कर्म के उदय से व्यथित व्यक्ति का।

चेतन, मिथ्यात्व मोहनीय का और श्रुतज्ञानावरण कर्म का-दोनों का उदय एक व्यक्ति में होता है... तब उस व्यक्ति का जीवन, मोह और अज्ञान से अंधकारमय हो जाता है। यदि मतिज्ञानावरण कर्म का भी उदय होता है साथ में, तो वह अति मूढ हो जाता है। ऐसे व्यक्ति भी होते हैं इस दुनिया में। जब ऐसे व्यक्तियों को देखता हूँ तब कर्मों की क्रूरता पर तिरस्कार पैदा होता है।

परंतु सही बात तो यह है कि जीवात्मा को वैसे कर्म बाँधने ही नहीं चाहिए। 'मैं ऐसी प्रवृत्ति करूँगा तो श्रुतज्ञानावरण कर्म बँधेगा,' ऐसी समझ भी तो नहीं चाहिए न? मिथ्यात्व ऐसी समझ पैदा नहीं होने देता है। बड़ी करुणता है जीवों की। चेतन, तू पुण्यशाली है... तुझे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है, इसलिए ये बातें तू समझ पाता है।

स्वस्थ रहे, यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २४

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद।

मेरे पत्र के अनुसंधान में तेरा प्रश्न हैः

'ऐसे मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म, क्या-क्या करने से बंधता

है? कृपा कर बताइए, ताकि वैसी दुःखदायिनी प्रवृत्तियाँ मैं छोड़ सकूँ।'

चेतन, अज्ञानतावश जीव कैसी-कैसी प्रवृत्ति करता है... और कैसे-कैसे पाप-कर्म बाँधता रहता है उस जीव को मालूम नहीं होता है। ये दो कर्म जीव क्या-क्या करने से बाँधता है, बताता हूँ।

- ज्ञानी पुरुषों के साथ अभद्र व्यवहार करने से, उनको पैर लगाने से, उन पर थूँकने से, उनकी निंदा करने से उनके शरीर को क्षतिग्रस्त करने से ये दो कर्म बँधते है।

- ज्ञान के उपकरण-पुस्तक, पेन, नोट, स्लेट वगैरह क्रोध से या लोभ से जलाने से, उन पर थूँकने से, उनको पटकने से, बगल में दबोचने से, उनको बाहर फेंकने से ये दो ज्ञानावरण कर्म बँधते है।

- पुस्तक, अख़बार.. वगैरह को बाथरूम में ले जाने से, संडास में ले जा कर पढ़ने से ये दो कर्म बँधते है।

- कोई व्यक्ति एकाग्रता से अध्ययन करता हो, उस में विक्षेप कर, अध्ययन में रुकावटें पैदा करने से ये कर्म बँधते है।

- ज्ञानी पुरुष की मज़ाक उड़ाने से, उनका उपहास करने से ये कर्म बँधते है। चेतन, सभी ज्ञानी पुरुषों का रूपवान होना संभव नहीं होता। कोई ज्ञानी पुरुष का शरीर रूपवान न हो, शरीर के हाथ, पैर, पेट वगैरह छोटे-बड़े हों, चमड़ी का रंग काला हो... दाँत छोटे-बड़े हो... उनको देख कर यदि मनुष्य हँसता है... मज़ाक करता है... तो ये दो कर्म बँध जाते है।

अष्टावक्र मुनि की कहानी तू जानता है न? प्राचीन काल में एक मुनि हो गए। उनके शरीर के आठ अवयव टेढ़े थे, वक्र थे, इसलिए वे 'अष्टावक्र' कहलाए। बड़े ज्ञानी पुरुष थे। नगर से दूर आश्रम में रहते थे।

एक दिन वे मुनि राजा की सभा में गए। राजा, विद्वानों का आदर करता था, यह बात सुन कर वे गए थे। परंतु राजसभा में जाते ही, वहाँ बैठे हुए राजा समेत सभी विद्वान जोर-जोर से हँसने लगे। जब उनका हँसना बंद हुआ, अष्टावक्र मुनि हँसने लगे। ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे। सभी विद्वान एक-दूसरे के सामने आश्चर्य से देखने लगे।

राजा ने अष्टावक्रजी को पूछाः 'महात्मन्, हम लोग सकारण हँसे, आप किस कारण हँसते हो? कृपा कर बताइए।'

अष्टावक्रजी ने कहाः 'राजन्, मैं यह समझकर तेरी राजसभा में आया था कि तेरी राजसभा में विद्वान ज्ञानी पुरुष बैठते है। परंतु मैंने तो यहाँ चमारों को बैठे देखा। तू भी चमार ही है। इसलिए मैं हँसता हूँ।

राजा और सभासदों के मुँह काले स्याह जैसे हो गए। राजा ने जरा रोष में आकर पूछाः 'हे मुनि, आप हमें चमार कैसे कहते हो?'

'राजन्, तू इतना भी नहीं समझता है? जो चमार होते है वे जीवों की चमड़ी को और हड्डी को ही देखते हैं। तुम लोगों ने मेरा क्या देखा? मेरी चमड़ी देखी, मेरी टेढ़ी-मेढ़ी हड्डियाँ देखी... और हँसने लगे...। तुमने मेरा ज्ञान नहीं देखा, मेरी विद्वत्ता नहीं देखी... राजन्, क्या तुम चमार नहीं हो?'

राजा ने और सभासदों ने खड़े होकर मुनि की क्षमा माँगी।

चेतन, इस प्रकार ज्ञानी पुरुषों की कभी मज़ाक नहीं करना, करने से ज्ञानावरण कर्म बंधता है।

- सर्वज्ञ-वचनों का मति कल्पना से अर्थ कर, उस अर्थ का उपदेश देने से ये कर्म बँधते है। इसको 'उत्सूत्रभाषण' कहते हैं। उत्सूत्रभाषण करने से ज्ञानावरण के साथ-साथ मोहनीय कर्म भी बँधता है, दूसरे पाप-कर्म भी बँधते है। शास्त्रों के अर्थ करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए।

- पढ़ने में जो अकाल बताया गया है, यानी जिस समय में पढ़ने का निषेध किया गया है, उस समय में पढ़ने से ये कर्म बँधते है।

- ज्ञानदाता गुरु का अविनय करने से, उनके साथ तुच्छ शब्दों में संभाषण करने से, ये कर्म बँधते हैं।

- ज्ञानदाता गुरु के प्रति हृदय में बहुमान का भाव नहीं रखने से ये कर्म बँधते है।

- विद्वान बनने के बाद कोई पूछता है - 'आपने इतना सारा ज्ञान किस गुरु से पाया?' जिस गुरु से ज्ञान पाया हो, वे प्रसिद्ध नहीं हो, 'उनका नाम बताने से मेरी लघुता होगी,' ऐसा मान कर, उनका नाम नहीं बताते हुए

दूसरे प्रसिद्ध गुरु का नाम बताने से ये कर्म बँधते हैं।

- सूत्र अशुद्ध बोलने से ये कर्म बँधते हैं।

- ज्ञान प्राप्त करने के अनुकूल संयोग होने पर भी, प्रमाद से, आलस्य से जो ज्ञान प्राप्त नहीं करता है, ज्ञानप्राप्ति की प्रेरणा देनेवालों के प्रति द्वेष करता है... वह ये दो कर्म बाँधता है।

- धर्मग्रंथों की जो निंदा-अवहेलना करता है, वह ये कर्म बाँधता है।

- अपने से ज्यादा बुद्धिमान स्त्री या पुरुष की ईर्ष्या करने से, निंदा करने से ये कर्म बँधते है।

जैसे, स्कूल में अपने से ज्यादा बुद्धिमान लड़के की, अध्यापक के द्वारा प्रशंसा होती है... दूसरे लोग भी उसकी प्रशंसा करते है, वह सुनकर जलन होती है... तो मतिज्ञानावरण कर्म बँधता है।

- गाँव में कोई बुद्धिमान पुरुष हो, गाँव की हर समस्या को सुलझाता हो, लोग उसकी प्रशंसा करते हों... उसके प्रति ईर्ष्याभाव धारण करने से मतिज्ञानावरण कर्म बँधता है।

- घर में तीन-चार भाई हैं, एक भाई बहुत ही बुद्धिमान है, माता-पिता उस लड़के की प्रशंसा करते हैं, वह सुनकर यदि दूसरे लड़के जलते हैं अपने मन में... ईर्ष्या करते हैं उसकी, तो वे मतिज्ञानावरण कर्म बाँधते हैं।

- चेतन, हम साधु है न? साधु जीवन कर्म बाँधने का जीवन नहीं है, कर्मों का नाश करने का जीवन है। परंतु यदि हम लोग भी, जिनाज्ञा का पालन नहीं करते हैं तो कर्म बाँधते है।

* यदि हम प्रतिदिन नया ज्ञान नहीं प्राप्त करते हैं - (ज्ञान प्राप्त करने के लिए आरोग्य चाहिए, बुद्धि चाहिए, विनय चाहिए, महेनत और ज्ञान की अभिरुचि चाहिए, यह सब होते हुए भी) तो ये दो कर्म बँधते हैं।

* यदि हम पहले प्राप्त किए हुए ज्ञान का पुनरावर्तन नहीं करते हैं, तो ज्ञानावरण कर्म बाँधते हैं।

* दूसरों को पढ़ाने की हमारी शक्ति होने पर भी, प्रमाद से नहीं पढ़ाते हैं तो ज्ञानावरण कर्म बाँधते हैं।

* पढ़नेवालों का उत्साह नहीं बढ़ाते हैं, तो भी ज्ञानावरण कर्म बँधता है।

चेतन, मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्म, जीव कैसे-कैसे बाँधता है, यह बताया, अब ये दो कर्म, पूर्वजन्मों में बाँधकर आए हैं इस जन्म में, तो उन कर्मों का नाश कैसे करना, यह भी लिखता हूँ।

- 'मैं बुद्धिमान हूँ, चूँकि मैंने मतिज्ञानावरण कर्म बाँधा हुआ है, मैं मूर्ख हूँ, अज्ञानी हूँ, चूँकि मैंने श्रुतज्ञानावरण कर्म बाँधा हुआ है, मुझे ये दोनों कर्मों का नाश करना है।' ऐसा संकल्प करना चाहिए। संकल्प के बिना सिद्धि प्राप्त नहीं होती है।

- प्रतिदिन विनय से और बहुमान से पढ़ते रहो। पढ़ने पर याद नहीं रहे, तो भी निराश हुए बिना पढ़ते रहो।

- जो पढ़ते हैं, उनको सहाय करते रहो। पुस्तक वगैरह जो चाहिए, उनको प्रेम से देते रहो।

- पढ़नेवाले साधु-साध्वी को, यदि आप के पास अनुकूल निवास है तो दिया करो। पढ़ानेवाला पंडित यदि पैसा चाहता

है तो पैसे दिया करो।

- पढ़नेवाले साधु-साध्वी को निर्दोष परंतु अनुकूल भिक्षा दिया करो।

- पढ़नेवाले साधु-साध्वी को पुस्तक-पेन वगैरह उपकरण दिया करो।

- जो कुछ पढ़े, उसको भूलें नहीं।

- चिंतन-मनन से ज्ञान बढ़ता है, इसलिए समय-समय पर शास्त्र चिंतन करते रहना चाहिए।

- श्रुत ज्ञान की भक्ति करते रहो।

- ज्ञानभंडारों का निर्माण करो।

- जो ज्ञान भंडार हैं, उनको व्यवस्थित और सुरक्षित रखो।

- ज्ञान भक्त महापुरुषों के जीवनचरित्र पढ़ते रहो।

* महामंत्री (मालव देश) पेथड शाह ने, आचार्य श्री धर्मघोषसूरीश्वरजी से ११ अंग (आचारांग वगैरह) विनय से सुने थे। 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' (भगवती सूत्र) सुनते समय जब जब 'गौतम' शब्द आता, तब एक-एक स्वर्णमुद्रा से

ज्ञानपूजा करते थे। ३६ हजार स्वर्णमुद्राओं से श्रुतभक्ति की थी।

* गुजरात के महामंत्री वस्तुपाल ने १८ करोड़ रुपये खर्च कर, तीन बड़े ज्ञान भंडार बनवाए थे। एक पाटन में, एक खंभात में और एक धोलका में।

* आभु संघवी नाम के उदार श्रावक ने तीन करोड़ रुपये खर्च कर ९१ अंगशास्त्र स्वर्ण की स्याही से लिखवाए थे और शेष आगम स्याही से लिखवाए थे।

* गुजरात का राजा कुमारपाल परम श्रुतभक्त था। उसने आगम-ग्रंथों के ३६ हजार श्लोक स्वर्ण की शाही से लिखवाए थे। श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने जो भी संस्कृत-प्राकृत भाषा में साहित्य की रचना की थी, कुमारपाल ने उस साहित्य की अनेक प्रतियाँ लिखवाई थी। २१ बड़े ज्ञान भंडार बनवाए थे। हेमचन्द्रसूरिजी के साहित्य सर्जन के महान कार्य में राजा कुमारपाल पूर्णरूपेण सहयोगी बने थे।

* 70 वर्ष की उम्र में कुमारपाल, 'सिद्धहेम' नाम का संस्कृत व्याकरण पढ़े थे। उन्होंने संस्कृत भाषा में काव्य रचनाएँ की थी।

* प्रतिदिन परमात्म भक्ति के ३२ अध्यायों का स्वाध्याय करने के बाद ही वे अपने ३२ दाँतों को साफ करते थे! यानी दंतधावन करते थे।

* महान श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने अपने जीवन काल में १४४४ ग्रंथों की रचना की थी। 'लल्लिग' श्रावक ने पूर्ण रूपेण हरिभद्रसूरिजी की साहित्यरचना में सहयोग दिया था।

चेतन, ज्ञान ऐसा पाना है कि जो हमें प्रकाश की ओर ले जायं। जो हमें परमात्मा की ओर ले जायं।

अंग्रेज कवि टी. एस. इलियट ने एक जगह लिखा है -

'हम जो ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं वह मात्र चलने का ज्ञान है, रुकने का और सोचने का नहीं है। बोलने का ज्ञान पा रहे हैं, मौन रहने का नहीं। हमारा यह ज्ञान (वास्तव में अज्ञान) हम को अज्ञानता के पास ले जा रहा है। हम जीते हैं, परंतु 'जीवन' खो दिया है। परिणाम स्वरूप जीवन का सच्चा आनंद हमने खो दिया है। इस ज्ञान से हमने हमारा विवेक खो दिया है।

वर्तमान काल में जो ज्ञान पाया जाता है, वह अनंत सूचनाओं में और फरमानों में खो गया है। २०-२० शताब्दि व्यतीत होने पर भी हम परमात्मा से दूर-सुदूर पहुँचे हैं... धूल के निकट!'

यह आक्रोश मिथ्याज्ञान के प्रति है। भौतिक विज्ञान के प्रति है।

हमें सम्यग् ज्ञान पाना है। इसलिए ज्ञानावरण कर्म को तोड़ने का पुरुषार्थ करना है। इसलिए ज्ञानी पुरुषों का परिचय करना है। ज्ञानी पुरुषों से ज्ञान प्राप्त करने में थकना नहीं है, निराश नहीं होना है। आराम और सुखशीलता को छोड़ना है। A seeker of knowledge must sacrifice his happiness.

इसी प्रकार पुरुषार्थ करने से कर्म के बंधन टूटेंगे। अवश्य टूटेंगे।

चेतन, शास्त्रज्ञान के माध्यम से आत्मज्ञान पाना है। आत्मतत्त्व को जानना है और आत्मानंद की अनुभूति करना है।

आत्मानंद ही वास्तव में ज्ञानानंद है।

- मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, ये दो ज्ञान परोक्ष हैं। इंद्रिय और मन के माध्यम से ये दो ज्ञान पाए जाते हैं।

- अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान-ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इन ज्ञानों में मन और इंद्रियों की अपेक्षा नहीं रहती है। इन ज्ञानों पर भी आवरण हैं! आवरण टूटने से, नष्ट होने से ये ज्ञान प्रगट होते हैं। इस विषय में आगे लिखूँगा।

तू स्वस्थ होगा। शेष कुशल,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २५

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा जिज्ञासापूर्ण पत्र मिला, आनंद!

तेरा यह प्रश्न हैः

'मैंने साधु पुरुषों के मुख से सुना है कि कोई महात्मा भूतकाल में ऐसे होते थे, जो मनुष्य के एक... दो... पाँच... सात पूर्व जन्म बताते थे, भविष्य के जन्म के विषय में बताते थे... एवं वे दूर-दूर के जड़-चेतन पदार्थ भी जान सकते थे, देख सकते थे। वह कैसे संभव हो सकता है और क्या मात्र साधु पुरुष ही देख सकते हैं? गृहस्थ नहीं देख सकते क्या? कृपया मेरे इस प्रश्न का समाधान करें।'

चेतन, ज्ञान पाँच प्रकार के होते हैंः मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान। ये पाँच ज्ञान दो विभाग में विभाजित हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं एवं अवधिज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान तथा केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं।

- जिस ज्ञान में मन तथा इंद्रियों की सहायता अपेक्षित होती है वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाता है।

- जिस ज्ञान में मन एवं इंद्रियों की सहायता आवश्यक नहीं रहती है, आत्मा स्वयं ज्ञान पाता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है।

- जन्म-जन्मांतरों का ज्ञान, हजारों लाखों करोडों माईल दूर रहे हुए पदार्थों का (जड़-चेतन) ज्ञान, प्रत्यक्ष ज्ञान से होता है। वह है अवधिज्ञान।

- 'अवधि' का अर्थ है मर्यादा। इस प्रत्यक्ष ज्ञान की मर्यादा होती है। जैसे - कोई अवधिज्ञानी एक हजार माईल दूर देख सकते हैं, कोई अवधिज्ञानी एक लाख माईल तक दूर देख सकते हैं। वैसे कोई एक सो वर्ष का भूतकाल देख सकते हैं तो कोई एक हजार... दो हजार... वर्ष का भूतकाल देख सकते हैं। कोई स्थूल पदार्थ देख सकते हैं, तो कोई सूक्ष्म पदार्थ देख सकते हैं।

- इस प्रकार अवधिज्ञान के अनंत प्रकार होते हैं! हालाकि अनंत प्रकारों का वर्णन करना मेरे लिए संभव नहीं हैं, मैं तो इस ज्ञान के ६ प्रकारों का ही वर्णन कर पाऊँगा। वह वर्णन करने के पहले यह बता देना चाहता हूँ कि ज्ञान किस-किस को होता है और कैसे प्रगट होता है।

- सभी देवों को यह ज्ञान होता है। सम्यग्दृष्टि देवों को वह ज्ञान स्पष्ट और विशद होता है, मिथ्यादृष्टि देवों को अस्पष्ट एवं सामान्य होता है। देवों

को जन्म से ही अवधिज्ञान होता हैं, उनको यह ज्ञान प्रगट करने का उपाय-पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता है।

- वैसे, नरक में सभी नारक जीवों का जन्म से ही यह ज्ञान होता है। नारक जीव भी सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि होते हैं।

- पशु-पक्षी एवं मनुष्यों को अवधिज्ञान होता है, परंतु तपश्चर्या, क्षमा वगैरह गुणों के द्वारा होता है। पुरुषार्थजन्य होता है। आत्मा पर रहा हुआ 'अवधिज्ञानावरण' कर्म का क्षयोपशम करना पड़ता है, तोड़ना पड़ता है उस कर्म को, तब अवधिज्ञान प्रगट होता है।

चेतन, एक बात समझना कि 'अवधिज्ञान' से रूपी द्रव्य ही देखे जा सकते हैं, अरूपी द्रव्य नहीं। पुद्गल-द्रव्य ही रूपी है। आत्मद्रव्य, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं कालद्रव्य अरूपी द्रव्य हैं। समग्र पुद्गलास्तिकाय रूपी द्रव्य है, इसलिए अवधिज्ञानी उसको देख सकते हैं।

अब संक्षेप में तुझे 'अवधिज्ञान' के ६ प्रकार बताता हूँ। ६ प्रकार के नाम इस प्रकार हैंः

१. अनुगामी, २. अननुगामी.

३. वर्धमान, ४. हीयमान.

५. प्रतिपाति ६. अप्रतिपाति.

- अवधिज्ञानी जहाँ भी जाय, अवधिज्ञान उसके साथ ही रहता है, वह अनुगामी अवधिज्ञान कहा जाता है।

- मनुष्य को जिस जगह 'अवधिज्ञान' प्रगट हुआ हो, वहाँ ही वह ज्ञान होता है, मनुष्य दूसरी जगह जाता है तो वह ज्ञान उसको नहीं होता है। उस मनुष्य के साथ नहीं जाता है वह ज्ञान, उसको 'अननुगामी अवधिज्ञान' कहते हैं।

- मनुष्य को या तिर्यंचों को जब अवधिज्ञान प्रगट होता है तब उस ज्ञान का क्षेत्र मर्यादित होता है, बहुत ही छोटा होता है, बाद में जैसे-जैसे विचार (अध्यवसाय) विशुद्ध-विशुद्धतर होते जाते हैं वैसे-वैसे ज्ञान का क्षेत्र बढ़ता

जाता है... यावत् चौदह राजलोक जितना परिपूर्ण क्षेत्र बन जाता है। यह 'वर्धमान अवधिज्ञान' कहा जाता है।

- शुद्ध-शुद्धतर अध्यवसायों में अवधिज्ञान प्रगट होता है, बढ़ता जाता है उसका क्षेत्र, परंतु तत्पश्चात् जैसे-जैसे अध्यवसाय की विशुद्धि कम होती है वैसे-वैसे ज्ञान का क्षेत्र घटता जाता है, इसको 'हीयमान अवधिज्ञान' कहते हैं।

- जो अवधिज्ञान प्रगट होता है, बाद में चला जाता है, उसको 'प्रतिपाति अवधिज्ञान' कहते हैं। हाँ, अवधिज्ञान प्रगट होता है वैसे चला भी जा सकता है! एकदम बुझ जाता है, दीपक की तरह।

- जो अवधिज्ञान प्रगट होने पर कभी नहीं जाता है, आत्मा में उस ज्ञान का प्रकाश निरंतर बना रहता है, उस ज्ञान को 'अप्रतिपाति अवधिज्ञान' कहते हैं।

चेतन, उत्कृष्ट अवधिज्ञान देवों को नहीं होता है। मनुष्यों को ही होता है। वैसे सबसे सूक्ष्म अवधिज्ञान भी मनुष्य एवं तिर्यंचों को ही होता है।

- अवधिज्ञान जिस प्रकार साधु-साध्वी को होता है वैसे गृहस्थ को भी हो सकता है। श्रमण भगवान महावीरस्वामी के अनन्य भक्त आनंद श्रावक को 'अवधिज्ञान' प्रगट हुआ था। वैसे दूसरे श्रावकों को भी होता था। वर्तमानकाल में, इस भरतक्षेत्र में प्रायः किसी को वह ज्ञान नहीं है। नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं है, हो सकता है, परंतु उस ज्ञान को प्रगट होने में जितनी आत्मविशुद्धि चाहिए, अध्यवसायों की विशुद्धि चाहिए, उतनी विशुद्धि कहाँ से लाना?

चेतन, 'विशेषावश्यक भाष्य' नामके ग्रंथ में, 'अवधिज्ञानावरण' कर्म का क्षयोपशम करने का स्पष्ट उपाय बताया गया हैः

१. अवेदी बनना,

२. अकषायी बनना।

जैन परिभाषा में 'वेद' शब्द का प्रयोग जीवों की वैषयिक वासना के अर्थ में किया गया है। 'सेक्सी' वृत्तियों को 'वेद' कहा गया है।

- पुरुषों की सेक्सी वृत्ति को पुरुषवेद,

- स्त्री की सेक्सी वृत्ति को स्त्री वेद, और

- नपुंसक की सेक्सी वृत्ति को नपुंसकवेद कहा गया है।

जो पुरुष या स्त्री, वेदमुक्त बनता है, उसके मन में वासना पैदा ही नहीं होती, वह 'अवेदी' कहलाता है। कभी अल्प प्रमाण में वासना जागृत हो भी सकती है, परंतु जागृत साधक-आत्मा उस वासना पर संयम कर लेता है।

चेतन, 'मैथुन संज्ञा' पर विजय पाना सरल तो नहीं है, फिर भी अशक्य-असंभव भी नहीं है। वैसे समग्र जीवसृष्टि में सब से ज्यादा 'मैथुन संज्ञा' मनुष्य को होती है और उस पर पूर्ण विजय भी मनुष्य ही पा सकता है।

मैथुन संज्ञा चित्त को चंचल बनाती है। चितवृत्तियाँ चंचल बन जाती हैं। इससे आत्मज्ञान नहीं बन पाता है। आत्मज्ञान पाने के लिए चित्त स्थिर होना अनिवार्य है। चित्तस्थैर्य के लिए मैथुन संज्ञा पर विजय पाना भी अनिवार्य है। 'अवधिज्ञान' आत्मज्ञान का ही एक प्रकार है। उस पर जो आवारक कर्म लगा है, उस कर्म का क्षय के लिए अथवा क्षयोपशम करने के लिए मैथुन संज्ञा (वेद) पर संयम करना ही पड़ेगा।

चेतन, अवेदी बनने के साथ-साथ 'अकषायी' बनना भी अति आवश्यक है। अकषायी का अर्थ है अल्पकषायी। कषायों की तीव्रता नहीं रहनी चाहिए। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी एवं प्रत्याख्यानी कषाय नहीं रहने चाहिए। संज्वलन कषाय भी

अति अल्प रहने चाहिए।

- प्रतिकूल संयोगों में क्रोध नहीं आना चाहिए।

- अपमान अथवा सन्मान के समय मान-कषाय नहीं उठना चाहिए,

- किसी भी प्रलोभन से प्रेरित होकर 'माया' नहीं करनी चाहिए,

- कैसी भी परिस्थिति हो, लोभ में फँसना नहीं चाहिए।

क्रोध, मान, माया और लोभ पर मनुष्य का संपूर्ण संयम रहना चाहिए। तब वह अकषायी अल्प कषायी कहा जाएगा।

चेतन, 'अवधिज्ञानावरण' कर्म का क्षयोपशम कर, अवधिज्ञान का

प्रकटीकरण करना है, तो अवेदी एवं अकषायी बनने का सतत पुरुषार्थ करना पड़ेगा। मन-वचन-काया से अवेदी बनना है, मन-वचन-काया से अकषायी बनना है।

चेतन, अवेदी-अकषायी मनुष्यों को वैसे तो अवधिज्ञान प्रकट होता ही है। परंतु नहीं प्रकट होता है तो पहले 'मनःपर्यवज्ञान' प्रकट होता है। बाद में अवधिज्ञान प्रकट होता है। परंतु एक बात निश्चित समझना कि ऐसी आत्माओं को मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान अवश्य होता है। ये दो ज्ञान जिनको होते हैं उनको ही अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञान होता है।

चेतन, पाना है अवधिज्ञान? इस ज्ञान में न मनकी आवश्यकता रहती है, न इंद्रियों की। आत्मा ही सीधा ज्ञान पाती है। दूर...दूर... देखा जाता है... भूतकाल के... कई जन्मों के रहस्य खुल जाते हैं। भविष्य के भेद खुल जाते हैं।

जैसे स्वयं का भूतकाल एवं भविष्यकाल देखने को मिलता है वैसे दूसरे जीवों का भी भूत-भविष्यकाल जान सकते हैं। जानने पर भी राग-द्वेष नहीं होंगे! क्योंकि 'अकषायी' आत्मा को राग-द्वेष नहीं हो सकते हैं।

चेतन, तेरे प्रश्न का समाधान हो जायेगा। पत्र में ज्यादा तो क्या लिख सकता हूँ? 'अवधिज्ञान' के विषय में वैसे तो चौदह प्रकार से चिंतन किया जा सकता है। 'नंदीसूत्र' एवं 'विशेषावश्यक भाष्य' में विस्तार से पाँचों ज्ञान का वर्णन मिलता है। कभी पढ़ना!

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २६

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

भक्तिभाव से परिपूर्ण तेरा पत्र मिला।

चित्त आनंदित हुआ। तेरे प्रश्न का तुझे प्रत्युत्तर मिला और तेरे मन का समाधान हुआ, इस बात से मुझे संतोष हुआ। तेरा नया प्रश्न इस प्रकार हैः

'गुरुदेव, दूसरे मनुष्यों के मन की बातें जानी जा सकती हैं क्या? वैसे मेरे मन की बातें, वहाँ दूर रहे आप जान सकते हो क्या? और यदि जान सकते हैं दूसरों के विचारों को, देख सकते हैं दूसरों की मनःस्थिति को, तो फिर हम क्यों नहीं देख सकते हैं? क्यों नहीं जान सकते हैं?'

चेतन, तेरा प्रश्न बहुत अच्छा है। परंतु मैं तुझे पूछता हूँ कि दूसरों के मन के विचार तुझे क्यों जानना है? दूसरों की मनःस्थिति का दर्शन क्यों करना है? कोई कारण तो होगा न?

- तेरा कोई शत्रु, तेरे विषय में क्या सोचता है, तुझे वह जानना है?

- तेरा कोई मित्र, तेरे विषय में क्या सोचता है, तुझे देखना है?

- मैं पूछता हूँ : जानकर तू क्या करेगा?

- जानकर तू भयभीत होगा, अथवा तेरे मन में द्वेष जगेगा? अथवा राग होगा... अथवा हँसी आएगी.. अथवा दुःख होगा। तू इतना सोच कि दूसरा तेरा कोई मित्र या शत्रु, तेरे मन को पढ़ ले तो? तुझे पसंद आएगा? नहीं! अच्छा है कि हम किसी के मन के विचारों को नहीं जान सकते हैं। अन्यथा बड़ी आफ़त आ सकती है।

- चूँकि हम इंद्रिय विजेता नहीं हैं,

- हम कषाय विजेता नहीं हैं।

- जब तक हम इंद्रियों के एवं कषायों के विजेता नहीं बनें, तब तक दूसरों के मानसिक विचार जानने की इच्छा भी मत

करें। तब तक अपने स्वयं के विचारों को देखें और समझें! अशुभ विचारों से मुक्त होने का उपाय करें एवं शुभ विचारों को बढ़ाने का प्रयत्न करें।

चेतन, हालाँकि है वैसा एक ज्ञान, उस ज्ञान के माध्यम से दूसरों के मन के विचार जाने जा सकते हैं, परंतु वह ज्ञान विकारी, कषायी एवं प्रमादी जीवों को नहीं हो सकता है। उस ज्ञान का नाम 'मनःपर्यव' हैं। जिस महापुरुष को मनःपर्यव-ज्ञान होता है वह दूसरों के मनोविचारों को जान सकते हैं, देख सकते हैं।

मनःपर्यव ज्ञान न गृहस्थ को होता है, नहीं सामान्य साधु को होता है।

यह ज्ञान सातवें गुणस्थानक पर रहे हुए अप्रमत्त चारित्रवंत महात्मा को होता है।

चेतन, 'गुणस्थानक' का तत्त्वज्ञान तो तूने पाया है। सातवें गुणस्थानक पर पहुँचना सरल नहीं है। बहुत मुश्किल काम है। छट्ठे गुणस्थानक पर रहे हुए साधुओं को भी सातवें गुणस्थानक पर जाना मुश्किल होता है, तो फिर चौथे-पाँचवें गुणस्थानक पर रहा हुआ तू कैसे सातवें गुणस्थानक पर जा सकता है?

- 'सर्वविरति' चारित्र होना अनिवार्य है।

- अप्रमत्त आत्मदशा होना अनिवार्य है।

- निद्रा नहीं होना, विकथा नहीं होना, कषाय नहीं होना, वैषयिक सुखों की तनिक भी इच्छा नहीं होना।

- ऐसी आत्मदशा भले ही दिन-रात न रहे, पाँच-दस घंटे नहीं रहे, ४०/५० मिनिट भी नहीं रह सके... परंतु ५/२५ मिनिट भी रहनी चाहिए। सभी विकार उपशांत हो... चित्त आत्मध्यान में लीन हो... आत्मचैतन्य स्फुरायमान हो... विशुद्ध अध्यवसाय वृद्धिगत हो... ऐसी आत्मस्थिति में 'मनःपर्यवज्ञान' प्रकट हो सकता है। प्रकट होना अनिवार्य नहीं होता, प्रगट होने की संभावना बनती है। परंतु एक बात समझना कि मनःपर्यवज्ञान सर्वविरतिधर महात्मा को ही होगा। मन-वचन-काया से जिन महात्माओं ने हिंसा वगैरह पापों का सर्वथा त्याग किया है और संयममय जीवन जिनका होता है, उनको ही 'मनःपर्यवज्ञान' हो सकता है, जब वे श्रेष्ठ आत्मविशुद्धि में प्रवर्तमान होते हैं तब।

चेतन, यदि तुझे दूसरे मनुष्यों के मनोविचारों को जानना है तो तुझे सर्वविरतिमय चारित्रधर्म का स्वीकार करना होगा। यह पहली शर्त है। दूसरी शर्त है अप्रमत्त बनने की। प्रमाद रहित जीवन जीना, सरल बात नहीं है। साधु जीवन में इंद्रियों पर विजय पाना, क्रोधादि कषायों पर विजय पाना, तीन गारव (रस-ऋद्धि-शाता) पर विजय पाना एवं परिषह विजेता बनना अति-अति मुश्किल काम है। अलबत्ता शूर एवं वीर महात्मा इस प्रकार

विजेता बन सकते हैं... परंतु वे अपूर्व आत्मवीर्य के धनी होते हैं। उन का आत्मवीर्य निरंतर उल्लसित रहता है।

ऐसी आत्मस्थिति में दूसरों के मन की बातें जानने की इच्छा ही नहीं रहती है। इच्छा होना भी विकार है। मनःपर्यवज्ञानी महात्मा वैसे दूसरों के मनोविचारों को देखते ही नहीं है, कभी परोपकार की दृष्टि से देखते हैं। मात्र देखते हैं। देखने पर न राग होता है, न द्वेष होता है।

चेतन, तू जानता है न कि छट्ठा गुणस्थानक 'प्रमत्त सर्वविरति' का है। यानी जो मनुष्य हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रिभोजन के पापों का सर्वथा त्याग कर साधु बन जाता है वह 'सर्वविरति' बन जाता है। परंतु फिर भी उस सर्वत्यागी साधु को

- इंद्रियों पर विजय पाने के लिए,

- क्रोध-मान-माया और लोभ पर विजय पाने के लिए,

- रस, ऋद्धि (वैभव) और शाता (सुखप्रियता) पर विजय पाने के लिए।

- शीत, ताप, क्षुधा, तृषा, अपमान... जैसे कष्टों को समताभाव से सहन करने के लिए सतत संघर्ष करना पड़ता है, सतत सावधान रहना पड़ता है।

- वैसे निद्रा पर भी संयम करना होता है। ६ घंटे से ज्यादा निद्रा साधुओं को नहीं होनी चाहिए।

चेतन, मनःपर्यवज्ञान, ऐसी अप्रमत्त संयम जीवन की आत्मस्थिति में प्रकट हो सकता है। संभव है तेरे लिए क्या? मेरे लिए भी, मुझे संभव नहीं लगता हैं।

तू शायद सोचेगा कि इस ज्ञान को पाने के लिए इतनी सारी शर्ते क्यों? इतना कठोर जीवन क्यों जीने का? चेतन, इसका कारण तुझे बताता हूँ।

ज्ञानावरण कर्म का एक प्रकार है। 'मनःपर्यवज्ञानावरण' कर्म। उस कर्म को तोड़ने के लिए इतना पुरुषार्थ करना

अनिवार्य माना गया है। उस कर्म को अप्रमादी विशुद्ध संयमी आत्मा ही तोड़ सकता है। 'मनः पर्यवज्ञानावरण' कर्म का क्षयोपशम हुए बिना मनःपर्यवज्ञान प्रकट नहीं होता है। उस ज्ञान के बिना दूसरों के मनोविचारों को जान नहीं सकते, देख नहीं सकते।

चेतन, मनःपर्यवज्ञान प्रकट होता है। सातवें गुणस्थानक में, परंतु बाद में छट्ठे गुणस्थानक पर भी रहता है, चला नहीं जाता है। छट्ठा गुणस्थानक है सर्वविरतिमय संयम का, परंतु प्रमाद का बाहुल्य रहता है। फिर भी, वह प्रमाद मनःपर्यवज्ञान में बाधक नहीं बनता है। ज्ञान का अवरोधक नहीं होता है वह प्रमाद।

- मनःपर्यवज्ञानी महात्माओं की आत्मस्थिति छट्ठे गुणस्थानक की होती है, फिर भी उनका ज्ञान अबाधित रहता है।

- इस सृष्टि में जितने भी मनुष्य हैं, उन सभी मनुष्यों के मनोगत भाव, मनःपर्यवज्ञानी जानते हैं।

- यह ज्ञान दो प्रकार का होता हैः १. ऋजुमति और २. विपुल मति। मन के विचारों को सामान्यतया जाननेवाला ऋजुमति-मनःपर्यव ज्ञान होता है। मन के विचारों विशेष रूप से जाननेवाला विपुलमति मनःपर्यवज्ञान होता है।

- चेतन, तेरे प्रश्न का समाधान संभवतः हो जाएगा। परंतु जब तक तेरी इंद्रियाँ स्वच्छंदी हैं ओर कषायों की प्रबलता है तब तक दूसरों के मनोगत भावों को, विचारो को जानने की इच्छा नहीं करना। अनुमान भी नहीं लगाना। ज्यादातर अनुमान गलत सिद्ध होते हैं। व्यवहार में विचारों का प्राधान्य नहीं होता है, वहाँ वाणी का एवं कायिक प्रवृत्ति का प्राधान्य रहता है। मन-वचन-काया की प्रवृत्तिओं को विशुद्ध करता रहे, यही मंगल कामना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २७

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

शुभभावसभर तेरा पत्र मिला!

मन प्रसन्न हुआ। तूने लिखा किः 'आप का पत्र पुनः पुनः पढ़ा। दूसरों के विचारों का अनुमान कर 'इसके ऐसे-ऐसे विचार हैं...' इस प्रकार निर्णय कर

लेने की मेरी आदत है। उस आदत को छोड़ने का मैंने निर्णय कर लिया है। कौन क्या सोचता है, मुझे नहीं जानना है। मुझे मेरे विचारों का विशुद्धीकरण करना है। दूसरों के अच्छे व्यवहार का आदर करना है।' वगैरह पढ़कर संतोष हुआ।

तेरा नया प्रश्नः

'गुरुदेव, मैंने विद्वानों के प्रवचनों में, वार्तालापों में सुना है कि हमारे सभी तीर्थंकर सर्वज्ञ होते हैं। दूसरे भी सर्वज्ञ बनते हैं। पुरुष सर्वज्ञ बन सकते हैं वैसे स्त्री भी सर्वज्ञ बन सकती है। तो हम क्यों सर्वज्ञ नहीं बन सकते? और, सर्वज्ञता क्या होती है एवं सर्वज्ञता से हमें क्या लाभ होता है? यह मेरी जिज्ञासा है।'

चेतन, 'ज्ञानावरण कर्म' के पाँच प्रकार हैं। पाँचवा प्रकार हैः केवल ज्ञानावरण। केवल ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने पर केवलज्ञान आत्मा में प्रकट होता है। 'केवलज्ञान' को ही 'सर्वज्ञाता' कहते हैं। जो मनुष्य ज्ञानावरण कर्म का नाश करता है। वह केवलज्ञानी-सर्वज्ञ बनता है। स्त्री हो या पुरुष हो, सर्वज्ञ बन सकता है।

तूने जो सुना कि 'सभी तीर्थंकर सर्वज्ञ होते हैं,' सही बात है। सर्वज्ञता प्राप्त होने के बाद ही तीर्थंकर 'धर्मतीर्थ' का प्रवर्तन करते हैं। जब तक वे सर्वज्ञ नहीं बनते हैं तब तक वे मौन रहते हैं, अपनी साधना में निमग्न रहते हैं।

जो-जो आत्मा सर्वज्ञ बनती है, पहले वह 'वीतराग' बनती है। पहले 'मोहनीय कर्म' का नाश होता है। बाद में ज्ञानावरण कर्म का नाश होता है। छद्मस्थ जीवों को जितने भी राग द्वेष होते हैं, जानने से और देखने से होते हैं। केवलज्ञान में तो सब कुछ दिखता है... सब कुछ जाना जाता है। यदि छद्मस्थ को केवलज्ञान हो जाय तो बड़ा अनर्थ हो जाय! परंतु ऐसा नहीं होता है। वीतराग को ही पूर्ण ज्ञान प्रकट होता है। वीतरागी आत्मा भले ही।

- लोक (चौदह राज लोक) देखे,

- अलोक (अनंत) देखे,

- अनंत द्रव्य देखे...

- अनंत भूतकाल देखे...

- अनंत भविष्यकाल देखे...

- अनंत जीवों के अनंत भाव देखे...

फिर भी उनको नहीं होता राग, नहीं होता द्वेष। चूँकि वे वीतराग होते हैं। मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने से वे निर्विकार होते हैं।

चेतन, आज, इस काल में हम न वीतराग बन सकते हैं, नहीं सर्वज्ञ बन सकते हैं। चूँकि मोहनीय कर्म का और ज्ञानवरण कर्म का हम संपूर्ण नाश नहीं कर सकते हैं।

तू पूछेगाः 'क्यों संपूर्ण नाश नहीं करते इन कर्मों का?'

इसका कारण, न हमारे पास वैसी शरीर शक्ति है, वैसा मनोबल है। तन और मन, दोनों निर्बल हैं हमारे। कर्मनाश करने के लिए दोनों शक्तियाँ अपेक्षित होती हैं। हाँ, कर्म बाँधने की शक्ति हैं हमारी। कर्म बाँधते रहते हैं।

चेतन, हमारे निर्बल तन-मन से हम उत्कृष्ट पाप कर्म नहीं बाँध सकते हैं। हाँ, उत्कृष्ट पाप कर्म बाँधने के लिए भी तन-मन की उत्कृष्ट शक्ति चाहिए। नहीं है हमारे पास वैसी शक्ति।

फिर भी, जितनी भी हमारी शक्ति है तन-मन की, हम केवलज्ञान के निकट पहुँचने का प्रयत्न कर सकते हैं। 'मुझे केवलज्ञान के निकट पहुँचना है' ऐसा संकल्प करना चाहिए। 'पूर्ण ज्ञान का पूर्णानंद मुझे पाना है,' हृदय में ऐसी तमन्ना रहनी चाहिए। ऐसी तमन्ना के बिना, पूर्णज्ञानी-सर्वज्ञ बनने की दिशा में प्रगति नहीं हो सकती है।

चेतन, अब तुझे केवलज्ञान का स्वरूप बताता हूँ।

- केवलज्ञान परम विशुद्ध ज्ञान होता है,

- आत्मा में वह प्रकट होने के बाद कभी चला जाता नहीं है,

- इसको 'क्षायिक ज्ञान' कहते हैं,

इस ज्ञान की तुलना में दूसरा कोई ज्ञान नहीं आता है,

- जिस प्रकार मतिज्ञान आदि ज्ञान के प्रकार होते हैं, वैसे इस ज्ञान के प्रकार नहीं होते हैं। यह एक और अखंड ज्ञान है,

- यह ज्ञान लोकालोक व्यापी होता है। इस ज्ञान में कोई भी अवरोध नहीं आ सकता है।

- यह ज्ञान प्रकट होने के बाद मतिज्ञान वगैरह चार ज्ञान, इसी ज्ञान में अंतर्भूत हो जाते हैं, उन ज्ञानों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता है।

- सभी सर्वज्ञों का केवलज्ञान समान होता है। किसी को ज्यादा, किसी को कम, ऐसा नहीं होता है।

- जिन महापुरुषों को केवलज्ञान प्रकट होता है, वे महापुरुष उसी भव में मुक्ति पा लेते हैं। उनको पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता है।

- सभी सर्वज्ञ पुरुष, वीतराग होते हैं। वीतरागता और सर्वज्ञता में से पूर्णानंद प्रकट होता है, इसलिए वे पूर्णानंदी होते हैं।

चेतन, सर्वज्ञता पाने का सब से बड़ा लाभ यह है, पूर्णानंद का अनुभव। दूसरे कितने-कैसे भी ज्ञानी हों, परंतु पूर्णानंद की अनुभूति नहीं हो सकेगी। अल्पकालीन आनंद मिलेगा, थोड़ा सा आनंद मिलेगा, परंतु पूर्णानंद नहीं मिलेगा। पूर्णज्ञान ही पूर्णानंद का असाधारण कारण है। पूर्ण ज्ञान का असाधारण कारण वीतरागता है। इसलिए सर्वप्रथम 'वीतराग' बनने का संकल्प करना होगा। जब यह संकल्प करेगा, तू 'विरागी' अवश्य बन जाएगा। 'वैराग्य गुण' आत्मा में स्वतः प्रकट होता है। जिस प्रकार वीतरागता आत्मा का मूलभूत गुण है वैसे वैराग्य भी आत्मा का ही गुण है।

चेतन, अब मैं तुझे 'ज्ञानावरण कर्म' जीव क्या-क्या करने से बाँधता है। यह बात बताऊँगा, जिससे तू सावधान हो सके और वैसी वृत्ति-प्रवृत्ति का त्याग कर सके। अज्ञानता की वजह से लोग ज्ञानावरण कर्म बाँधते हैं। उनको मालूम ही नहीं पड़ता है कि 'मैं ज्ञानावरण कर्म बाँध रहा हूँ... ऐसी प्रवृत्ति करने से।'

- ज्ञानी पुरुषों के साथ, गुरुजनों के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने से, उनके प्रति मन में दुर्भाव रखने से, उनकी निंदा करने से, उनको नुकसान पहुँचाने से ज्ञानावरण कर्म बँधता है।

- जिस गुरु से ज्ञान पाया हो (व्यवहारिक, धार्मिक या आध्यात्मिक) उस

गुरु का नाम नहीं बताने से यानी मैंने यह ज्ञान उस गुरुदेव से पाया है, ऐसी बात नहीं कहते हुए, दूसरे कोई प्रसिद्ध गुरु का नाम देता है, तो ज्ञानावरण कर्म बाँधता है।

- जिस गुरु से ज्ञान पाया हो, उस गुरु ने कभी कोई प्रसंग में शिष्य को कठोर शब्द कहे हों, सजा की हो... इससे शिष्य के मन में गुरु के प्रति द्वेष पैदा हो गया हो और शिष्य गुरु की हत्या करने का सोचे... हत्या कर भी दे... तो ज्ञानावरण कर्म बँधता है।

- गुरु में जो दोष नहीं हों, उन दोषों का गुरु में आरोप कर, उनका अवर्णवाद बोलता रहे। गुरु में जो दोष देखे हों, उन दोषों को लोगों के सामने प्रकट करता रहे... तो ज्ञानावरण कर्म बँधता है।

ज्ञान के साधन-पुस्तक, पेन-पेन्सील, कागज वगैरह को

- जमीन पर पटकने से,

- जला देने से,

- दुरुपयोग करने से,

- गंदी जगह में डालने से,

- उन पर गुस्सा करने से,

ज्ञानावरण कर्म बँधता है।

- खाते-खाते बोलने से एवं पुस्तक पढ़ने से,

- संडास में बैठे-बैठे पुस्तक, पेपर वगैरह पढ़ने से,

- किताब पर या पेपर पर बैठने से,

- किताब को फाड़ डालने से,

- ज्ञान के प्रति द्वेष, अप्रीति करने से,

- ज्ञानावरण कर्म बँधता है।

चेतन, कभी कोई गुरुजन अथवा कल्याण मित्र ज्ञान पाने की प्रेरणा दें, उस समय ऐसा नहीं बोलना कि - 'मुझे पढ़ने में रस नहीं है, मुझे वैसी बातें सुनने में

रुचि नहीं हैं... कोई उपयोग की बातें नहीं हैं वे... व्यर्थ समय गँवाना मैं पसंद नहीं करता...' वगैरह। ज्ञान के प्रति नफरत नहीं होनी चाहिए। ज्ञान प्राप्ति का समय नहीं मिलता हो तो अफसोस व्यक्त कर सकता है, परंतु नफरत नहीं।

ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधनों की आशातना करने से ज्ञानावरण कर्म (पाँचों प्रकार के) जीव बाँधता है।

यदि ज्ञानावरण कर्म तोड़ना है, क्षयोपशम करना है, तो-

- ज्ञानी पुरुषों का विनय कर, उनकी सेवा कर, उनके चित्त को प्रसन्न कर,

- गुरु से विनयपूर्वक अध्ययन कर, विवेक से प्रश्न कर,

- प्रतिदिन नया-नया तत्त्वज्ञान प्राप्त कर,

- जो ज्ञान पाया हो, भूल नहीं जाना,

- उचित समय में अध्ययन करना,

- ज्ञान एवं ज्ञानी की प्रशंसा करना,

- ज्ञानी पुरुषों के गुणों का कीर्तन करना,

- ज्ञान के साधनों का बहुमान से उपयोग करना,

- निःस्वार्थ भाव से दूसरों को ज्ञान देना,

- 'ज्ञानपद' की विशेष आराधना करना।

चेतन, ज्ञानावरण कर्म का क्षय कर, तू एक दिन पूर्णज्ञानी बने, यही मंगल कामना,

पत्र : २८

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरे पत्र में तेरे भावों की जो अभिव्यक्ति हुई है, चित्त को आह्लादित करनेवाली है। 'ज्ञानावरण कर्म' के बंधन से बचने का तेरा संकल्प सफल बनें, वैसी मेरी शुभ कामना है।

तेरा नया प्रश्नः

'गुरुदेव, एक दिन एक अंध पुरुष से मिलना हुआ। उसके प्रति मेरे हृदय में सहानुभूति पैदा हुई। कुछ बातें कर मैं वापस घर लौटा, परंतु मेरे मन में प्रश्न उठाः 'यह मनुष्य अंधा क्यों जन्मा होगा? इसके कारणरूप कोई कर्म होगा?' वैसे उसी दिन मैंने एक बधिर को देखा। उसके विषय में भी वैसा ही प्रश्न पैदा हुआ। 'यह मनुष्य बधिर क्यों है? क्या कारण?' उसी दिन एक मूक लड़का देखा। वह जन्म से बोलता नहीं था। डॉक्टरों ने कह दिया था कि वह कभी बोल नहीं सकेगा।' संसार में लाखो की तादाद में अंध, मूक और बधिर मनुष्य हैं... क्यों? रातभर सोचता रहा... प्रभात में उठ कर आप

को पत्र लिख दिया...'

चेतन, कोई भी कार्य होता है, तो कारण से ही होता है। कार्य कारणभाव का सिद्धांत सर्वमान्य सिद्धांत है। तूने जिस मनुष्य को अंध देखा, उसकी आत्मा ने पूर्व जन्मों में 'चक्षु-दर्शनावरण' नाम का पाप-कर्म बाँधा होगा। 'दर्शनावरण' नाम के कर्म का यह एक प्रकार है। चक्षु-दर्शनावरण कर्म का प्रभाव है यह अंधापन।

चक्षुदर्शन यानी आँखों से देखना। चक्षुदर्शन को रोकनेवाला जो कर्म है, उस कर्म को चक्षुदर्शनावरण कहते हैं। अंधापन का प्रमुख कारण यह कर्म है। साधारण कारण दूसरे भी हो सकते हैं। बच्चा जब माता के पेट में होता है उस समय उसकी आँखों को, माता की लापरवाही से नुकसान हुआ हो और पेट में ही बच्चा अंधा हो गया हो। ऐसा होने का कारण भी यह 'चक्षुदर्शनावरण' कर्म को मानना पड़ेगा।

यह कर्म निम्न कारणों से बँधता है।

- दूसरे जीवों की आँखें फोड़ डालने से,
- रोष में, क्रोध में, आवेश में आक्रोश करना - 'क्या तेरी आँखें फूट गई हैं? अंधा है क्या? आँखें नहीं है क्या?' वगैरह,
- दूसरों की सुंदर आँखें देखकर ईर्ष्या करने से...
- 'इसकी आँखें फूट जायं तो अच्छा है,' ऐसा सोचने से...
- अंधे मनुष्यों का तिरस्कार करने से, उनको कटु शब्द कहने से...
- अंधजनों का परिहास करने से,
- अंधजनों को सताने से, परेशान करने से,
- सहायता करने की शक्ति होते हुए, अंधजनों को सहायता नहीं करने से, 'चक्षुदर्शनावरण' कर्म बँधता है।

चेतन, सोचने में, बोलने में और व्यवहार में सावधान रहना। वैसे जिसके अपने घर में अंधजन होता है, उस घरवालों को विशेष रूप से सावधान रहना पड़ता है। चूँकि अंधजन कभी-कभी छोटी-बड़ी भूल कर बैठता है,

उस समय उसके प्रति आक्रोश नहीं करना है। सदैव उसके प्रति घर के लोगों के हृदय में करुणा एवं सहानुभूति का झरना बहता रहना चाहिए।

अब मैं तेरे दूसरे प्रश्नों का समाधान लिखता हूँ।

- वह बधिर क्यों बना?
- वह मूक-गूँगा क्यों बना?

चूँकि उन जीवों ने पूर्व जन्मों में "अचक्षुदर्शनावरण" नाम का दर्शनावरण कर्म बाँधा था। "अचक्षुदर्शनावरण" कर्म, दर्शनावरण कर्म का ही एक प्रकार है इस कर्म के अंतर्गत आँखों के अलावा -

- कान
- नाक

- जिह्वा

- स्पर्श, और

- मन

इतनी इंद्रियों का समावेश होता है। इस पाँचों को 'अचक्षु' नाम दिया गया है। इन पाँच इंद्रियों को कोई क्षति होती है, कोई नुकसान होता है तो उसका कारण यह अचक्षु-दर्शनावरण कर्म होता है।

- अचक्षुदर्शनावरण कर्म के उदय से

- मनुष्य बधिर बन सकता है,

- मूक बन सकता है,

- घ्राणशक्ति चली जा सकती है,

- स्पर्श का अनुभव (सुखद) नहीं होता है,

- मन पागल या अर्धपागल बन सकता है।

चेतन, मन को अस्वस्थ एवं विचारशून्य करनेवाला भी यह कर्म है। इसलिए, सर्वप्रथम यह कर्म नया नहीं बँधें, वैसी सावधानी बरतनी होगी।

यदि यह कर्म 'निकाचित' बँधा होगा तो औषध प्रयोग से अथवा मंत्रप्रयोग

से इंद्रियाँ अच्छी नहीं हो सकेगी। कर्मबंधन निकाचित नहीं होगा और कोई औषध प्रयोग कर लिया, अथवा उचित मंत्रप्रयोग मिल गया, तो इंद्रियाँ अच्छी हो सकती है।

चेतन, हमारे जीवन के साथ यह 'दर्शनावरण कर्म' प्रगाढ़ रूप से जुड़ा हुआ है न? पाँच इंद्रियाँ और मन, यही जीवन है। जीवन में से इंद्रियाँ और मन निकल जायं, तो क्या बचेगा? इसलिए इस दर्शनावरण कर्म को बाँधने से बचते रहें। जो बाँधकर आए हैं पूर्वजन्मों में, उसको तोड़ने का पुरुषार्थ करते रहें।

- आँखों की दर्शन-शक्ति का नाश करता है चक्षुदर्शनावरण कर्म।

- शेष इंद्रियों की शक्ति का नाश करता है अचक्षुदर्शनावरण कर्म।

- मन की विचारशक्ति को कुंठित करता है अचक्षुदर्शनावरण कर्म।

अज्ञानदशा में मनुष्य कैसे-कैसे यह कर्म बाँधता है, उसके कुछ उदाहरण बताता हूँ-

- बधिरों का उपहास करते हैं,

- जब कोई बात सुनता नहीं है तब आक्रोश करते हैं - बहरा है? सुनता नहीं?

- जब कोई मनुष्य रहस्य की बात सुन लेता है और बात करनेवाले को मालूम हो जाता है। तब क्रोध के आवेश में बोल देता है - 'इसके कान काट दो... इस के कान बहरे कर दो...' वगैरह,

- वैसे, किसी को हम कोई बात पूछते हैं और वह जवाब नहीं देता है, तब क्रोध में बोलते हैं - 'गूँगा है क्या? मुँह में जीभ नहीं है क्या? बोलता क्यों नहीं?'

- मूक लोगों का उपहास करते हैं, हँसते है,

- मूक लोगों को सताने की भावना से मूक होने का अभिनय करते हैं,

- मूक लोगों के प्रति क्रोध, तिरस्कार करते हैं,

इससे 'अचक्षुदर्शनावरण' कर्म बँधता है। वह कर्म जब उदय में आता है

तब यह मनुष्य को बहरा-गूँगा बनाता है।

वैसे नाक और स्पर्शेंद्रिय के विषय में भी समझना।

सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण बात है मन की। अचक्षुदर्शनावरण कर्म का संबंध मन के साथ भी है।

- कोई मनुष्य सोच ही नहीं सकता है, मूढ होता है,

- कोई मनुष्य तत्त्वचिंतन-मनन नहीं कर सकता है,

- किसी का मन विक्षिप्त हो जाता है,

- कोई मनुष्य अर्धपागल अथवा पूर्ण पागल होता है...

इसका कारण यह 'अचक्षुदर्शनावरण कर्म' है।

चेतन, इसलिए मैं तुझे कहता हूँ कभी अपनी बुद्धि का अभिमान नहीं करना। दूसरों की बुद्धि का उपहास नहीं करना। 'वह तो बुद्धिहीन है... उसमें तो दिमाग नाम का यंत्र ही नहीं है... उसको तो विचार करना ही नहीं आता है... वह तो पागल है पागल... निरा मूर्ख है... उसमें अक्ल की एक बूँद भी नहीं है...' इत्यादि शब्दप्रयोग कभी नहीं करना। अपने अच्छे मन का अभिमान नहीं करना है और दूसरों के मन का तिरस्कार नहीं करना है।

अपने मन को पवित्र, निर्मल एवं विशुद्ध रखने के लिए जागृत रहना है। तेरे प्रश्नों का समाधान हो जाएगा इस पत्र से। इस दर्शनावरण कर्म के विषय में विशेष बातें लिखूँगा आगे के पत्र में...

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : २९

चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र आए उसके पहले ही यह पत्र लिख रहा हूँ। क्योंकि जिस विषय का मनुष्य को अध्ययन ही नहीं होता, उस विषय में उसकी जिज्ञासा प्रायः पैदा नहीं होती है। आज इस पत्र में मैं जो बातें लिखने जा रहा हूँ, शायद इस विषय में तेरा अध्ययन नहीं है। इस विषय में शायद तूने सोचा भी नहीं होगा।

चेतन, बात है 'दर्शनावरण कर्म' के ही दो प्रकार के कर्मों की -

१. अवधिदर्शनावरण कर्म, और

२. केवलदर्शनावरण कर्म

तूने 'अवधिज्ञान' और 'केवलज्ञान' के विषय में पढ़ा भी होगा और सुना भी होगा। मैंने भी तुझे लिखा है इन दो ज्ञान के विषय में। परंतु 'अवधिदर्शन' एवं 'केवलदर्शन' के विषय में मैंने तुझे लिखा भी नहीं है और कभी सुनाया भी नहीं है। शायद इस विषय पर तूने प्रवचन भी सुना नहीं होगा।

आज मैं तुझे इस विषय पर लिखता हूँ।

चेतन, वस्तु को विशेष रूप से जाननेवाला साकार बोध ज्ञान कहलाता है और वस्तु को सामान्य रूप से जाननेवाला निराकार बोध 'दर्शन' कहलाता है। अवधि का अनाकार बोध 'अवधिदर्शन' है।

- वस्तु का विशेष बोध 'ज्ञान' है,

- वस्तु का सामान्य बोध 'दर्शन' है,

- छद्मस्थ मनुष्य को पहले दर्शन होता है, बाद में ज्ञान।

- केवलज्ञानी महात्मा को पहले ज्ञान होता है, बाद में दर्शन।

- अवधिज्ञानी को पहले अवधिदर्शन होता है बाद में अवधिज्ञान।

- केवलज्ञानी को पहले केवलज्ञान होता है, बाद में केवलदर्शन।

इन बातों को अब स्पष्टता से समझाता हूँ।

चेतन, इन दो दर्शनों का वास्तव में हमारे जीवन के साथ कोई संबंध नहीं है। न हमें अवधिदर्शन होनेवाला है, नहीं केवलदर्शन। अवधिज्ञानी को ही अवधिदर्शन होता है, केवलज्ञानी को ही केवल दर्शन होता है। न हम अवधिज्ञानी बनने की योग्यता रखते हैं, नहीं केवलज्ञानी बनने की पात्रता रखते हैं। फिर भी ज्ञान और दर्शन के विषय में जानकारी होना आवश्यक है।

'ज्ञानोपयोग' और 'दर्शनोपयोग' जैन दर्शन का विशिष्ट तत्त्वज्ञान है। और यह 'उपयोग' ही 'आत्मा' का लक्षण है। 'प्रशमरति' ग्रंथ में कहा गया हैः

सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा च ।।१९४।।

सभी जीवों का सामान्य लक्षण 'उपयोग' है। उस उपयोग के दो प्रकार हैः साकार और अनाकार। साकार के आठ

प्रकार हैं और अनाकार के चार प्रकार है।

चेतन, यह 'उपयोग' शब्द जैन तत्त्वज्ञान की परिभाषा का शब्द है। इस शब्द को संसार-व्यवहार के अर्थ में नहीं समझना है। जैसे कि 'मैं बरसात में इस छाते का उपयोग करता हूँ, लिखने के लिए मैं इस पेन का उपयोग करता हूँ।' यहाँ जिस 'उपयोग' शब्द का प्रयोग किया गया, वह संसार-व्यवहार में प्रयुक्त शब्द है। प्रस्तुत में 'उपयोग' शब्द 'बोधरुप व्यापार' के अर्थ में प्रयुक्त है।

शायद तेरे मन में प्रश्न उठेगा किः 'आत्मा में अनंत गुण है, उसमें से 'उपयोग' को ही आत्मा का लक्षण क्यों कहा गया?'

चेतन, आत्मा में गुण अनंत हैं, परंतु सभी गुणों में 'उपयोग' की प्रधानता है। उपयोग 'स्व-पर प्रकाशरूप' गुण है। उपयोग ही स्व और पर का बोध कराता है, ज्ञान कराता है। 'यह अच्छा, यह अच्छा नहीं, यह ऐसा क्यों? ऐसा क्यों नहीं?' वगैरह ज्ञान 'उपयोग' के कारण ही जाना जाता है।

लक्षण ऐसा होना चाहिए कि जो समग्र लक्ष्य में सदैव रहता हो। आत्मा लक्ष्य है, उपयोग लक्ष्य है। सभी आत्माओं में यह लक्षण सदैव देखा जा सकता है। 'निगोद' की अति सूक्ष्म आत्मा-में भी उपयोग-गुण प्रकट होता है। यह उपयोग-लक्षण-

- आत्मा में ही रहता है, (लक्ष्य में ही रहता है)
- लक्ष्येतर-जड़ में नहीं जाता है,
- सकल लक्ष्य में रहता है।

चेतन, उपयोग दो प्रकार का हैः

- ज्ञानोपयोग (विशेष बोध) और
- दर्शनोपयोग (सामान्य बोध)
- ज्ञानोपयोग को साकार उपयोग कहते हैं,
- दर्शनोपयोग को अनाकार उपयोग कहते हैं।

ज्ञानशक्ति-चेतनाशक्ति सभी आत्माओं में समान होते हुए भी बोधव्यापार-उपयोग समान नहीं होता है। इसलिए जीवों में उपयोग की विविधता देखी जाती है। यह विविधता, जीव के बाह्य आंतरिक कारणों की विविधता पर अवलंबित होती है।

बाह्य कारण-इंद्रियाँ, विषय, देश-काल वगैरह सभी जीवों को समान रूप से प्राप्त नहीं होते है।

आंतरिक कारण-कर्मों की विविधता प्रमुख है। इन कारणों की वजह से जीव भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न बोध-क्रिया करता है। बोध की विविधता का हम अनुभव करते हैं।

इस बोध-क्रिया का विभागीकरण आठ और चार विभागों में किया गया है। ज्ञान के आठ प्रकार और दर्शन के चार प्रकार। प्रस्तुत में 'दर्शन' विषय है, इसलिए उसी का वर्णन करता हूँ।

दर्शन के चार प्रकार-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

दर्शन के निर्विकल्प बोध कहते है। ज्ञान को सविकल्प बोध कहते हैं। अवधिज्ञान सविकल्प बोध है, अवधिदर्शन निर्विकल्प बोध हैं। केवलज्ञान सविकल्प बोध है, केवलदर्शन निर्विकल्प बोध है। चेतन, इस पत्र में चिंतन-मनन का विषय लिखा है, तू अवश्य चिंतन-मनन करना, कुशल रहे -

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३०

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला। आनंद,

अवधि-दर्शनावरण एवं केवल-दर्शनावरण कर्म के विषय में तूने लिखा सो ठीक है। हमारे वर्तमान जीवन के साथ उसका विशेष संबंध नहीं है चूँकि

इस जीवन में न तो हमें अवधि-दर्शन होनेवाला है, नहीं केवल-दर्शन।

तेरा प्रश्न है निद्रा के विषय में।

'मेरा एक मित्र है, उसकी निद्रा प्रगाढ़ है। उस को जगाने में बड़ी तकलीफ होती है। मित्र के भाई की निद्रा तो गजब है। वह चलते-चलते भी नींद लेता है। इस प्रकार की निद्रा का कोई कारण होगा? कारणरूप कोई कर्म होगा? समझाने की कृपा करें।'

चेतन, है कारण। कर्म ही कारण है। 'दर्शनावरण' कर्म ही कारणभूत है। दर्शनावरण कर्म के पाँच अवांतर कर्म निद्रा से ही संबंधित है। उन कर्मों के नाम निम्न प्रकार हैः

१. निद्रा

२. निद्रा-निद्रा

३. प्रचला

४. प्रचला-प्रचला

५. थिणद्धि

अब मैं एक-एक प्रकार समझाता हूँ, इससे तेरे प्रश्न का समाधान मिल जाएगा।

१. पहला प्रकार है निद्रा। इस कर्म के उदय से निद्रा आती है, परंतु प्रगाढ़ निद्रा नहीं। इस निद्रा के उदय वाले मनुष्य को सुखपूर्वक अल्प प्रयत्न से उठाया जा सकता है। एक आवाज़ लगाइए, वह उठ जाएगा। उसके शरीर को स्पर्श करें, तूर्त उठ जाएगा।

२. दूसरा प्रकार है 'निद्रा-निद्रा' का। तेरे मित्र को यह निद्रा का उदय होना चाहिए। इस 'निद्रा-निद्रा-कर्म' का उदय होता है जिस मनुष्य को, उसको उठाने में, जगाने में बड़ी तकलीफ होती है। जोर-जोर से चिल्लाना पड़ता है। उसके शरीर को हिलाना पड़ता है, अथवा उस पर पानी की बुंदे डालनी पड़ती है। तब वह जागता है।

चेतन, घर में जिस व्यक्ति को इस 'निद्रा-निद्रा' कर्म का उदय होता है,

उसके प्रति घर के लोग कुछ नाराज होते हैं। उसकी निद्रा को लेकर उसको कोसते रहते हैं। 'वह जल्दी उठता नहीं है, उसको जागने में बहुत तकलीफ पड़ती है... वह बहुत नींद लेता है...' वगैरह। परंतु ज्यादातर लोग सही कारण जानते नहीं है। सही कारण जानने पर जीवात्मा के प्रति रोष नहीं होगा। कर्म के प्रति रोष होगा और उस कर्म की निर्जरा करने का उपाय खोजेगा।

३. निद्रा का तीसरा प्रकार है प्रचला। प्रचला-कर्म का उदय होने पर जीवात्मा को बैठे-बैठे नींद आ जाती है, चलते-चलते भी निद्रा आ जाती है। चेतन, बैठे-बैठे नींद लेनेवाले तो तूने देखे होंगे। मैं तो रोजाना देखता हूँ। प्रवचन सुनते-सुनते एक-दो महानुभाव निद्रा के उत्संग में ढल ही जाते है। दूसरे लोग जब प्रवचन का रसास्वाद करते हैं तब वे महानुभाव निद्रा का आस्वाद लेते है। बैठे-बैठे निद्राधीन हो जाते हैं। चेतन, खड़े-खड़े निद्रा लेनेवालों को शायद तूने नहीं देखे होंगे। मैंने देखे हैं।

हाँ, खड़े-खड़े नींद लेते हैं लोग। तूने शायद नहीं देखे होंगे ऐसे लोग। मैंने शाम के प्रतिक्रमण में खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करनेवालों को, कुछ वृद्ध पुरुषों को, कुछ बच्चों को नींद लेते हुए देखा है। कभी कोई जमीन पर गिर भी जाता है। 'प्रचला' कर्म के उदय से खड़े-खड़े नींद आ सकती है।

४. चौथा प्रकार है 'प्रचला-प्रचला' निद्रा का। इस कर्म का जिस मनुष्य को उदय होता है, उसको चलते-चलते नींद आ जाती है। वे चलते रहते हैं और नींद लेते रहते हैं। तूने शायद ऐसे लोग नहीं देखे होंगे। मैंने देखे हैं। मैं भी बचपन में चलते-चलते नींद लेता था। नींद आती हो और चलना अनिवार्य होता है तब चलते-चलते नींद आ सकती है। जितनी निद्रा मनुष्य को होनी चाहिए उतनी निद्रा पूर्ण नहीं हुई हो और उस को जगाकर चलाया जायं तो चलते-चलते नींद आ सकती है। 'प्रचला-प्रचला' कर्म का उदय इसमें कारणभूत होता है। चेतन, अब कभी ऐसा मनुष्य देखने में आए तो उसका उपहास मत करना, परंतु सोचना कि 'प्रचला-प्रचला' कर्म का उदय इस प्रकार चलते हुए मनुष्य को भी निद्राधीन कर सकता है।

५. निद्रा का पाँचवा प्रकार है 'थिणद्धि' निद्रा का। संस्कृत भाषा में इसका नाम है स्त्यानद्धि। जिस मनुष्य को इस 'थिणद्धि' निद्रा का उदय होता है, वह

नींद में ही चिंतित कार्य कर लेता है। दिन में जो कार्य करने का सोचा हो, वह रात्रि के समय निद्रा में ही कर लेता है। जब वह सुबह में जागता है उसको याद नहीं आता है कि मैंने यह कार्य किया है। निद्रा का यह प्रकार बहुत घृणित माना गया है।

चेतन, इस 'थिणद्धि' निद्रा के उदय में मनुष्य की शक्ति (शारीरिक) बहुत बढ़ जाती है। दो या तीन गुनी शक्ति हो जाती

है।

यदि मनुष्य का प्रथम संघयण हो और उसको 'थिणद्धि' निद्रा का उदय हो, तो उसकी शक्ति प्रचंड़ हो जाती है। वह अपने हाथों से शेर को भी चीर डालता है। चेतन, अपने शास्त्रों में इस विषय में एक उदाहरण दिया गया है। एक व्यक्ति ने दीक्षा ली, साधु बन गया। आचार्य को मालूम नहीं था कि उस व्यक्ति को कभी-कभी 'थिणद्धि' निद्रा का उदय होता है। एक दिन रात्रि में उपाश्रय के बाहर चले गए... निद्रा में ही थे। थिणद्धि निद्रा का उदय था। उन्होंने गाँव के बाहर जाकर एक शेर को मार डाला। गाँव के दरवाजे पर दूसरे शेर को मार डाला और गाँव के अंदर आए हुए तीसरे शेर को भी मार डाला। वापस आकर वे सो गए। सुबह आचार्य ने उस साधु के कपड़े खून से सने हुए देखे। हाथ भी खून से सने हुए थे। पूछा साधु को, परंतु साधु को कुछ भी याद नहीं था। नगर में बात चली कि रात्रि में तीन शेर मारे गए हैं। आचार्य ने अनुमान किया। इस साधु ने ही निद्रा में यह काम किया लगता है। उसको गृहवास में भेज दिया।

चेतन, थिणद्धि निद्रा का जिसको उदय हो उसको दीक्षा नहीं दी जाती। अनजानपन में दीक्षा दी गई हो तो उसको साधु जीवन में नहीं रखा जाता है। ऐसी तीर्थंकरों की आज्ञा है। हालाँकि इस काल में पहला संघयण नहीं होने से वैसी 'थिणद्धि निद्रा' का उदय नहीं हो सकता है। फिर भी निद्रा में किसी मनुष्य का गला घोंटने की शक्ति तो आज भी आ सकती है। ऐसी स्थिति में, वैसे मनुष्य को दीक्षा नहीं दी जा सकती है। वह घर में भी भयरूप होता है। निद्रा में ही किसी की हत्या कर सकता है। थिणद्धि निद्रा के उदयवाले को 'नरकगामी' जीव कहा है। वह मर कर नरक में जाता है चूँकि उसके मन के परिणाम अति उग्र होते हैं।

हिंसा के तीव्र परिणाम जीव को नरक में ले जाते हैं। 'थिणद्धि' निद्रा का उदय, हिंसा के तीव्र परिणाम के साथ ही होता है।

चेतन, जो कर्म पूर्वजन्मों में जीव बाँध कर आया है, वे कर्म तो यहाँ भोगने ही पड़ेंगे। इसमें हम परिवर्तन नहीं कर सकते हैं। परंतु नए कर्म बाँधने में हमारी सावधानी रहनी चाहिए। इस 'दर्शनावरण' कर्म बाँधने के हेतु वे ही हैं जो ज्ञानावरण कर्म के बंध हेतु बताए हैं। परंतु पाँच प्रकार की निद्रा के बंध हेतु मुख्य रूप से 'प्रमाद' है। प्रमाद के अनुरुप निद्रा-दर्शनावरण कर्म बँधता है।

- अति अल्प प्रमाद से निद्रा,
- अल्प प्रमाद से निद्रा-निद्रा,
- ज्यादा प्रमाद से प्रचला,
- अति प्रमाद से प्रचला-प्रचला, और

तीव्रातितीव्र प्रमाद से थिणद्धि-दर्शनावरण कर्म बँधता है।

चेतन, पाँच प्रकार के प्रमाद तू जानता है। तीर्थंकर परमात्मा एक क्षण का भी प्रमाद नहीं करने का उपदेश क्यों देते हैं, तेरी समझ में आया न?

हर मनुष्य के जीवन व्यवहार में निद्रा महत्त्वपूर्ण अंग है। कम निद्रावाला अप्रमादी मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषार्थ कर सकता है। पुरुषार्थ से सफलता के सोपान चढ़ता जाता है।

निद्रा-दर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम करने के कुछ उपाय तीर्थंकरों ने बताए हैं। उसमें श्रेष्ठ उपाय बताया गया है परमात्मभक्ति का। परमात्म-प्रीति के साथ की हुई परमात्मशक्ति दर्शनावरण-कर्म का क्षयोपशम करती है।

चेतन, जीवन में अप्रमत्त बनना है। सदैव जागृत रहना है। धर्मपुरुषार्थ में जागृति और अप्रमत्तता आने पर जीवन में अपूर्व धर्मोल्लास प्रगट होगा।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३१

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र पढ़कर आनंद हुआ।

निद्रा के विषय में तेरे मन का समाधान हुआ-जानकर संतोष हुआ। तेरा नया प्रश्न है उच्च-नीच के विषय में:

'हजारों वर्षों से किसी जाति विशेष को उच्च माना गया है, किसी जाति विशेष को नीच माना गया है। क्या यह भेद मनुष्यकृत है या कर्मकृत?'

चेतन, उच्च-नीच का भेद कर्मकृत है, मनुष्य कृत नहीं है। जिस जीव का उच्च गोत्र कर्म का उदय होता है वह उच्च

कहलाता है और जिस जीव का नीच गोत्र कर्म का उदय होता है वह, नीच कहलाता है, हीन जाति का कहलाता है।

जैसे मनुष्य की दुनिया में कोई उच्च कहलाता है, कोई नीच कहलाता है वैसे पशु-पक्षी की दुनिया में उच्च-नीच के भेद असंख्य वर्षों से प्रचलित हैं। हंस उच्च कहलाता है, कौआ नीच कहलाता है। हाथी उच्च जाति का कहलाता है, गधा नीच जाति का कहलाता है।

चेतन, उच्च-नीच का भेद अनादिकालीन है और अनंत काल पर्यंत रहनेवाला है। जीव जैसे कर्म बाँधता है, वैसे उसको उच्चता अथवा नीचता की स्थिति प्राप्त होती है। किस जाति में जन्म मिलता है - यह निर्णय - जाति-नामकर्म करता है, परंतु उच्चता अथवा नीचता (दुनिया की दृष्टि में) प्राप्त होती है गौत्र कर्म की वजह से। उच्च जाति में जन्मा हुआ मनुष्य, नीच गोत्र कर्म के उदय से 'नीच' कहलाता है, वैसे नीच जाति में जन्मा हुआ मनुष्य, उच्च गोत्र कर्म के उदय से 'उच्च' कहलाता है। उच्च-नीच जाति दुनिया के हर देश में होती है। जीव अपने-अपने जाति नाम कर्म के हिसाब

से उच्च अथवा नीच जाति में जन्म पाता है।

वैसे, अपने-अपने 'गोत्र कर्म' के हिसाब से जीव उच्च या नीच कहलाता है।

चेतन, यदि मनुष्य उच्च कहलाता है तो उसका उच्च गोत्र कर्म का उदय मानना। यदि मनुष्य नीच कहलाता है तो उसका नीच गोत्र कर्म का उदय मानना।

- निम्न स्तर की जाति में जन्मे हुए जीवों का तिरस्कार करने से, उनके साथ दुर्व्यवहार करने से और उनके प्रति घृणा करने से 'नीच गोत्र' कर्म बँधता है।

- अपना उत्कर्ष करने से, दूसरों का अपकर्ष करने से नीच गोत्र कर्म बँधता है।

- अपने कुल एवं जाति का अभिमान करने से 'नीचगोत्र' कर्म बँधता है।

चेतन, भविष्य में नीचकुल में जन्म नहीं लेना हो और तिरस्कृत जीवन नहीं जीना हो तो दूसरे जीवों का तिरस्कार नहीं करना। अपकर्ष नहीं करना, अपने उच्च कुल-जाति का अभिमान नहीं करना। मन में भी नहीं लाना कि 'मेरा कुल उत्तम है... मेरी जाति महान है।' दूसरों के सामने ऐसा बोलना तो है ही नहीं।

कभी, इसी जन्म में उच्च गोत्र कर्म का उदय समाप्त हो सकता है और नीच गोत्र कर्म का उदय शुरू होता है। दुनिया जिस को उच्च मानती है, नीच गोत्र कर्म के उदय से उसी को दुनिया नीच मानती है, उसका तिरस्कार करती है।

भूल से भी हम नीच गोत्र कर्म नहीं बाँध लें, इस बात की सावधानी जीवनपर्यंत रखनी है और हमारे जीवन में यदि नीच गोत्र कर्म का उदय शुरू हो गया है तो दीन-हीन नहीं बनना है। परंतु स्वस्थ मन से, समता भाव से जीवन जीना है। इतना मनोबल होना ही चाहिए कि जब दुनिया के लोग हमारा तिरस्कार करते हों उस समय हम दीन-हीन नहीं बन जायं। मन में दुःख संताप का अनुभव नहीं करें।

चेतन, इस 'कर्म-तत्त्व' का बोध कराने का मेरा लक्ष्य यही है कि हर समय तू स्वस्थ रहे, प्रसन्न चित्त रहे। स्वोत्कर्ष और परापकर्ष की भावना से तू मुक्त रहे।

जिस प्रकार नीच गोत्र कर्म के उदय में दीन-हीन नहीं बनना है, वैसे उच्च गोत्र कर्म के उदय में उन्मत्त नहीं बनना है। अपनी प्रशंसा अपने मुँह से कभी नहीं करनी है। जो आजकल लोग करते रहते हैं अपनी प्रशंसा, अपने परिवार की प्रशंसा।

अलबत्ता, परिवार के लोगों के गुणों की प्रशंसा कर सकते हैं। परंतु अपनी उच्चता प्रदर्शित करने के लिए नहीं। जैसे कि तुम्हारा लड़का जुआ खेलता है, मेरा लड़का कभी ताश को हाथ भी नहीं लगाता है। मेरा लड़का कभी शराब को छूता भी नहीं... और अपने पास वह... रहते हैं न? वे रोजाना शराब पीते हैं।' ऐसी बातें नहीं करनी चाहिए।

'मेरे पिताजी बड़े डॉक्टर हैं, मेरा भाई इन्जीनियर है और मेरे पति बड़े वकील हैं... मेरा लड़का पढ़ने के लिए परदेश गया है। हमारा परिवार सुशिक्षित है।' ऐसा अभिमान कभी नहीं करना। ऐसा बोलने से मन में उत्कर्ष की भावना आ जाती है तो 'नीच गोत्र कर्म' बँध जाता है।

'मेरे पिताजी बड़े उद्योगपति हैं, पति का व्यापार परदेश के साथ चलता है... मेरा लड़का सरकार में बड़ा अफसर है... हमारी बहुत बड़ी आय है।' दूसरों के सामने कभी भी ऐसा स्वोत्कर्ष नहीं गाना। अन्यथा 'नीच गोत्र कर्म' बँधते देरी नहीं लगेगी।

चेतन, आज के युग में स्वप्रशंसा करने की 'फेशन' चल पड़ी है। स्वप्रशंसा के साथ साथ परनिंदा करने की आदत भी व्यापक रूप से दिखाई देती है। अलबत्ता, इसमें मनुष्य की अज्ञानता ही मूल कारण है। परंतु कभी-कभी 'कर्म' के तत्त्वज्ञान को समझनेवाले विद्वान लोग भी स्वप्रशंसा और परनिंदा की जाल में फँसे हुए दिखाई देते हैं। तब आश्चर्य तो नहीं, दुःख

होता है। जिन विद्वानों के पास जीवनस्पर्शी ज्ञान नहीं होता है, मात्र शास्त्रज्ञान ही होता है, वैसे लोग स्वप्रशंसा की और परनिंदा की जाल में फँसते हैं। शास्त्रज्ञान भी कभी मनुष्य को अभिमानी बना देता है। जिस

शास्त्रज्ञान से जीवनपथ आलोकित करना होता है, उस शास्त्रज्ञान के दीपक को हाथ में लेकर मनुष्य गहरी खाई में कूद पड़ता है, जहाँ घोर अंधकार होता है।

उच्च गोत्र कर्म बँधता है पंच परमेष्ठि भगवंतों की प्रशंसा करने से। उत्तम पुरुषों का आदर करने से। गुणवानों की प्रशंसा करने से मनुष्य स्वयं गुणवान बनता है। चेतन, कभी भी परनिंदा नहीं करना, परप्रशंसा करना। यदि सिद्ध भगवंतों के गुणों का ज्ञान हो तो सिद्ध भगवंतों की प्रशंसा करना।

आचार्य, उपाध्याय और साधु पुरुषों के गुणों की प्रशंसा करना। कभी भी निंदा नहीं करना। दोषों की, निंदा करने से कोई सुधरता नहीं है। सुधारना है दूसरों को, तो पहले उनकी प्रशंसा करो, बाद में उसी व्यक्ति को उसके दोष बताइए। प्रेम से बताइए। संभव है कि वह सुधरेगा।

चेतन, मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपनी प्रशंसा चाहता है, दुनिया की दृष्टि में उच्चता चाहता है, परंतु वह उच्च गोत्र कर्म के बिना नहीं मिलता है। उच्च गोत्र कर्म बाँधा होगा तभी वह उदय में आएगा। इस जीवन में उच्च गोत्र कर्म बाँध लेना है। इसलिए जो उपाय बताए हैं, वे उपाय करना।

चेतन, तेरे प्रश्न का समाधान अवश्य होगा इस पत्र से। तू पत्र लिखना। उच्च-नीच का भेद कर्मकृत है और वह अनादिकाल से है।

शेष कुशल,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३२

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ।

तेरा सद्भावपूर्ण पत्र पाकर आनंदित हुआ।

दुनिया में उच्च-जीव का भेद कर्मकृत है, गोत्र कर्म-सर्जित है, यह बात तेरी समझ में आ गई, अच्छा हुआ।

तेरा नया प्रश्नः

'एक मनुष्य १०० साल जीता है, कोई जन्मते ही मर जाता है। कोई वृद्धावस्था में मर जाता है, कोई जुवानी में मर जाता है, तो कोई किशोर अवस्था में मर जाता है। समझ में नहीं आता कि जीवन का निर्णायक तत्त्व कौन सा है? जीवन और मृत्यु का कोई निर्णायक तत्त्व होना चाहिए।'

चेतन, जीवन का निर्णायक-तत्त्व है आयुष्य कर्म। चारों गति के सभी जीव, पूर्वजन्म में जिस गति का आयुष्य बाँधे हुए होते हैं उस गति में जन्मते हैं और जितने वर्ष का आयुष्य बाँधा होगा, वहाँ उतने वर्ष वे जिएँगे। आयुष्य-कर्म पूरा होते ही जीव की मृत्यु हो जाती है।

मनुष्य चारों गति का आयुष्यकर्म बाँध सकता है। देवगति का, मनुष्य गति का, तिर्यंच गति का और नरक गति का आयुष्य कर्म बाँध सकता है। गति का निर्णय गति-नामकर्म से होता है। उस-उस गति में आयुष्य का निर्णय आयुष्य-कर्म से होता है।

इस जीवन में ही जीवात्मा आगामी (मृत्यु के बाद की) गति का निर्णय कर लेता है और उस गति में जीवन की मर्यादा (आयुष्य) का निर्णय भी कर लेता है। मान लें कि मैंने देवगति का कर्म गति-नामकर्म से बाँध लिया है।

उसके साथ-साथ उस देवगति में मेरा आयुष्य कितने वर्ष का होगा, उसका निर्णय भी हो जाता है, वह निर्णय आयुष्य-कर्म (देव-आयुष्य) के माध्यम से होता है।

हालाँकि मनुष्य को मालूम नहीं पड़ता है कि उसने कब आयुष्य कर्म बाँध लिया है। किस गति का कर्म बाँधा है, वह भी उसको मालूम नहीं होता है। परंतु मृत्यु के पूर्व गति और आयुष्य का निर्णय अवश्य हो जाता है।

१. गति २. जाति ३. आयुष्य

ये तीन बातें मृत्यु के पूर्व निश्चित हो जाती हैं।

वर्तमान जीवन मर्यादा का आधार है आयुष्य कर्म। जिस का १०० वर्ष का आयुष्य कर्म होगा, वह १०० वर्ष जिएगा। जिस का १० साल का आयुष्य कर्म होगा वह १० साल जिएगा।

चेतन, आयुष्य कर्म के दो प्रकार होते हैंः

- सोपक्रम और - निरुपक्रम

उपक्रम का अर्थ होता है आघात... धक्का। सोपक्रम आयुष्य कर्म ऐसा होता है कि १०० वर्ष का आयुष्य कर्म लेकर जीव आया हो, परंतु आघात लगने पर १० वर्ष... २० वर्ष... ५० वर्ष में कभी भी आयुष्य कर्म टूट सकता है और जीव की मृत्यु हो जाती है। बीच में कभी भी आयुष्य कर्म टूट सकता है। यदि आघात नहीं लगे तो १०० वर्ष पूर्ण कर सकता है। अकस्मात में मरनेवालों का, आत्महत्या कर मरनेवालों का आयुष्य कर्म 'सोपक्रम' होता है।

- आघात लगने पर भी, धक्का लगने पर भी आयुष्य नहीं टूटता है, वह 'निरूपक्रम' आयुष्य कहा जाता है। शास्त्रों में लिखा है कि तीर्थंकरों का, चक्रवर्ती का, बलदेव-वासुदेव का आयुष्य कर्म निरूपक्रम होता है। प्रतिवासुदेवों का भी निरूपक्रम आयुष्य कर्म होता है। उत्तम पुरुषों का आयुष्य कर्म निरूपक्रम होता है।

चेतन, अपना आयुष्य-कर्म सोपक्रम होता है। आघात लगने पर कभी भी अपना आयुष्य पूर्ण हो सकता है।

आघात अनेक प्रकार के होते हैं -

- प्रिय जन की मृत्यु,

- अचानक राजकीय आपत्ति,

- रेल्वे अकस्मात,

- रोड अकस्मात,

- अति भय,

- बाढ़ में, आग में सर्वविनाश,

- मित्र-स्वजनों की ओर से धोखाबाजी,

- विश्वासघात...

ऐसे अनेक आघातजनक प्रसंग आयुष्य कर्म को तोड़ सकते हैं। मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। कुछ उदाहरण बताता हूँ -

- एक महिला को अपने पति पर अति स्नेह था। पति कार्यवश दिल्ली गया था। दूसरे दिन प्लेन से आनेवाला था। पति के मित्र ने जाकर उसकी पत्नी को मजाक में कहाः 'मेरा मित्र प्लेन के अकस्मात में मर गया है...' पत्नी के मुँह से चीख निकल गई... जमीन पर गिर पड़ी... और तूर्त ही उसकी मृत्यु हो गई। पति की मृत्यु का समाचार आघात बन गया। आयुष्य कर्म टूट गया।

- अहमदाबाद में एक मकान की पहली मंजिल पर एक परिवार रहता था, दूसरी मंजिल पर दूसरा परिवार रहता था। एक दिन सुबह उस मकान के आगे सरकारी गाड़ी आकर खड़ी रही और उसमें से १०/१२ सरकारी अफसर बाहर आए। दूसरी मंजिल पर रहनेवाले पुरुष को लगा कि उसको पकड़ने के लिए ये लोग आए है... वह घबरा गया... हृदय पर आघात हुआ और मर गया। वे सरकारी अफसर उसको पकड़ने नहीं आए थे। वे लोग पहली मंजिल पर रहनेवाले को पकड़ने आए थे। परंतु वह निर्भय था। उसको आघात नहीं लगा। वह मरा नहीं।

- बंबई की एक मार्केट में एक पेढी के दो मालिक थे। दोनों भागीदारों में आपस में गहरा प्रेम था। पेढी २० वर्ष से चल रही थी। एक दिन 'अ' को मालूम हुआ कि 'ब' ने विश्वासघात किया है और १० लाख रुपये खा गया

है। उसको आघात लगा। बेहोश हो गया, हास्पिटल में भर्ती किया गया। यहाँ उसकी मृत्यु हो गई। सोपक्रम आयुष्य होने पर ऐसी घटना घट सकती है।

चेतन, एक बाँध टूट गया। बाँध का पानी पासवाले नगर में प्रवेश कर गया। राजमार्ग पर २०/२० फूट ऊपर पानी बहने लगा। कई घर गिर गए, कई मनुष्य और पशु बह गए। धन-माल और मिल्कत बह गई... बहुत बड़ा नुकसान हुआ। एक परिवार में से पत्नी, बच्चे... माता... सब बह गए... मात्र घर का पुरुष बच गया। बाढ़ का पानी उतर गया। उस पुरुष ने अपने परिवार को खोजा.. कोई नहीं मिला... उसको गहरा आघात लगा... रात्रि में वह सोया सो सोया, कभी जागा नहीं।

निरूपक्रम आयुष्यवाले मनुष्यों को आघात लगते हैं, परंतु आयुष्य कर्म तोड़ नहीं सकते। आयुष्य कर्म प्रबल होता है। उनका जितना आयुष्य होता है, उतना परिपूर्ण आयुष्य वह भोगता है और बाद में मरता है। देवलोक के देवों का आयुष्य

कर्म निरूपक्रम होता है, वैसे नरक के जीवों का आयुष्य भी निरूपक्रम होता है। चेतन, अभी यहाँ इस भरतक्षेत्र में अपना आयुष्य सोपक्रम होता है। ऐसी परिस्थिति में हमें आघात नहीं लगे वैसी निर्भयता सिद्ध कर लेनी चाहिए। 'कर्मसिद्धांत' के अध्ययन से और आत्मा की अमरता के ज्ञान

से वैसी निर्भयता प्राप्त होती है। निर्भय मनुष्य को आघात कम लगते हैं। हाँ, अकस्मात तो किसी भी व्यक्ति का हो सकता है।

तू कुशल रहना, पत्र देना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३३

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से यहाँ कुशलता है। तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ। तेरा नया प्रश्न पढ़कर भी आनंदित हुआ।

नया प्रश्नः

'कोई मनुष्य मरकर देवगति में उत्पन्न होता है, कोई मनुष्य मरकर पुनः मनुष्यगति में उत्पन्न होता है। कोई मरकर तिर्यंचयोनि में पैदा होता है तो कोई नरक में जाता है। ऐसा क्यों होता है? सभी मनुष्य देवगति में क्यों उत्पन्न नहीं होते? अथवा मनुष्यगति में क्यों नहीं जन्म लेते?'

चेतन, जो मनुष्य धर्मपुरुषार्थ ज्यादा करता है और पाप कम करता है वह देवगति का आयुष्य कर्म बाँधता है, वह देवगति में उत्पन्न होता है।

- जो मनुष्य जितना धर्मपुरुषार्थ करता है उतना पाप-पुरुषार्थ भी करता है, वह मनुष्यगति का आयुष्य कर्म बाँधता है, वह मनुष्यगति में जन्म पाता है।

- जो मनुष्य धर्मपुरुषार्थ बहुत कम करता है, ज्यादा पाप-पुरुषार्थ ही करता रहता है, वह तिर्यंच गति का आयुष्य कर्म बाँधता है, मरकर तिर्यंचगति में जन्म पाता है।

- जो मनुष्य जीवन में मात्र पाप ही करता रहता है, जिस का हृदय क्रूर होता है, वह नरक गति का आयुष्य बाँधता है और मरकर नरकगति में चला जाता है।

अपने-अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य को गति प्राप्त होती है। चेतन, जैसा नियम मनुष्य के लिए है वैसा नियम पशु-पक्षी के लिए भी है। परंतु देवों के

लिए एवं नारकी के लिए अलग सा नियम है।

- देव जो होते हैं, वे नरकगति का और देवगति का आयुष्य कर्म नहीं बाँधते हैं। वे मनुष्यगति का अथवा तिर्यंचगति का ही आयुष्य-कर्म बाँधते हैं। अपने-अपने आयुष्य-कर्म के अनुसार वे उस-उस गति में जन्म लेते हैं।

- नारकी के जीवन नरक-आयुष्य और देव-आयुष्य नहीं बाँध सकते हैं। वे या तो मनुष्यगति का आयुष्य अथवा तिर्यंच गति का आयुष्यकर्म बाँध सकते हैं।

चेतन, मनुष्य कैसा-कैसा पुरुषार्थ कर, किस-किस गति का आयुष्य कर्म बाँधता है, यह तत्त्वज्ञान तुझे संक्षेप में बताता हूँ।

बंधइ निरयाऽऽ उ महारंभ-परिग्गहरओ रूद्धो।।

जो मनुष्य महा आरंभ करता है, यानी जिस कार्य में अति जीव हिंसा होती है, उसको महारंभ कहते हैं। महारंभ में रत होता है, मन वचन काया से महारंभवाले कार्यों में लीन रहता है और परिग्रह की तीव्र लालसा होती हैः 'मैं लाखों-करोड़ों रुपये कमा लूँ, एक रुपया भी किसी को दूँ नहीं...' धन-दौलत के ऊपर तीव्र आसक्ति होती है वे मनुष्य नरक गति का आयुष्य कर्म बाँधते है और वे नरकगति में उत्पन्न होते हैं।

चेतन, मनुष्य ने एक बार देवगति का अथवा मनुष्यगति का आयुष्य कर्म बाँध लिया हो, बाद में वह महारंभी, महा परिग्रही बन जाता है, हिंसक विचार का बन जाता है, पाप विचारवाला, पाप प्रवृत्तिवाला हो जाता है, फिर भी वह नरक-गति का आयुष्य कर्म नहीं बाँधेगा! जीवात्मा अपने जीवन में एक बार ही आयुष्य कर्म बाँधता है। बँधे हुए आयुष्य-कर्म में परिवर्तन भी नहीं हो सकता है। सद्गति का आयुष्य बाँधा है तो वह सद्गति में ही जाएगा। जो पाप कर्म उसने बाँधें हों,

वे कर्म दूसरे जन्म में उदय में नहीं आएँगे तो तीसरे जन्म में... दसवें जन्म में भी उदय में आएँगे। कर्म अपना फल तो बताएँगे ही।

तिरिआउ गूढ़ हिअओ सढो स सल्लो।

- जो मनुष्य गूढ़ हृदयवाला होता है यानी अपने हृदय के भावों को छुपा

कर रखता है, दूसरों को अपने भावों से अज्ञात रखता है,

- जो शठ होता है, धूर्त होता है, दूसरों के साथ ठगाई करता रहता है, दूसरों को अपनी जाल में फँसाता रहता है, और

- जो "माया-शल्य" सहित होता है, जिस की प्रकृति ही मायावी होती है, ऐसे लोग तिर्यंच (पशु-पक्षी) गति का आयुष्य कर्म बाँधते हैं।

- तिर्यंचगति में जानेवाले मनुष्यों की "आहारसंज्ञा" भी प्रबल होती है। दिन-रात उसके मन में खाने के विचार, खाद्य पदार्थों के विचार घूमते रहते हैं।

अब मनुष्यगति का आयुष्य कौन बाँध सकता है, यह बात बताता हूँ।

मणुस्साउ पयईइ तणुकसाओ दाणरूई मज्झिम गुणो अ।।

- जो मनुष्य प्रकृति से अल्प कषायी होता है यानी स्वाभाविक रूप से जिस के क्रोध-मान-माया-लोभ अल्प होते हैं,

- जिस मनुष्य की सहज दान-रुचि होती है, यानी सदैव दान देने में जो अभिरुचि रखता है और शक्ति-अनुसार जो दान देता है,

- जो क्षमाशील होता है, सदाचारी होता है, नम्रता, सरलता वगैरह गुण जिसमें होते हैं,

ऐसा मनुष्य मनुष्यगति का आयुष्य कर्म बाँधता है।

कैसा मनुष्य देवगति का आयुष्यकर्म बाँधता है, यह बताता हूँ।

अविरयमाई सुराऽऽऊं बाल तवो, अकाम निज्जरो जयइ।।

- चेतन, जो मनुष्य अविरत सम्यग्दृष्टि होता है, महाव्रतधारी साधु-साध्वी होते हैं,

- जो बाल तपस्वी होते हैं, यानी मिथ्यादृष्टि तपस्वी होते हैं, सम्यग्दृष्टि तपस्वी होते हैं, महाव्रतधारी तपस्वी होते हैं,

- जो मनुष्य "अकाम निर्जरा" करनेवाले होते हैं, यानी जो मनुष्य अनिच्छा से दुःख सहन करते हैं, जो जीव अज्ञानी हैं और तप करते हैं, जो ज्ञानी पुरुष 'सकाम निर्जरा' करते हैं, यानी स्वेच्छा से जो कष्ट सहन करते

हैं,

ऐसे मनुष्य देवगति का आयुष्यकर्म बाँधते हैं।

चेतन, किस गति का आयुष्यकर्म बाँधना है, इससे स्पष्ट होता है। जिस गति का आयुष्य कर्म बाँधना हो, उसके अनुरूप पुरुषार्थ करना चाहिए।

मालूम नहीं पड़ता है कि अपना आयुष्य कर्म बँध गया है या नहीं बँधा है। यह भी नहीं जान सकते कि कब आयुष्य कर्म बँधेगा। इसलिए सदैव जागृत रहना है। ऐसा बताया जाता है कि प्रायः पर्व तिथि के दिनों में आयुष्य कर्म बँधता है। यह एक सर्वसामान्य नियम बताया है। इसलिए पर्व दिनों में विशेष प्रकार की धर्म आराधना करने का एवं पापों का त्याग करने के नियम बनाए गए हैं। "पव्वेसु पोसहवयं" पर्व दिनों में पौषध व्रत करने का ज्ञानी पुरुषों ने उपदेश दिया है। पौषध-व्रत यानी सर्वथा पाप निवृत्ति की धर्मक्रिया। गृहस्थों के लिए यह व्रत बहुत ही महत्वपूर्ण है। पर्व दिनों में यह व्रत लिया हो और आयुष्य कर्म बँध जाय तो सद्गति का आयुष्य-कर्म बँध सकता है।

चेतन, कभी पर्व के दिनों में नहीं, चालू दिनों में भी आयुष्य कर्म बँध सकता है। इसलिए पाप त्याग करना अति आवश्यक है। आने वाले (मृत्यु के बाद) जीवन का विचार करना बहुत आवश्यक है। "परलोकदृष्टि" का इस अपेक्षा से ज्यादा महत्व बन जाता है। बस?

कुशल रहना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३४

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र पाकर चित्त आनंदित हुआ।

'आयुष्य-कर्म' के माध्यम से तेरे प्रश्न का समाधान हुआ और इस कर्म के विषय में तुझे विशेष जानकारी प्राप्त हुई - इसका तूने तेरे पत्र में हर्ष व्यक्त किया, इससे मुझे प्रसन्नता हुई। चेतन, तेरा नया प्रश्न विषय के अनुरूप है-

'जीवात्मा के जीवन का निर्णायक कर्म 'आयुष्य कर्म' है, यह बात समझ में आ गई, परंतु जीवात्मा को उस-उस गति में कोई कर्म ले जाता है अथवा आत्मा स्वतः जाती है?'

चेतन, जिस प्रकार गति चार है उसी प्रकार उस-उस गति में ले जानेवाले कर्म भी चार है। उन कर्मों को 'गति-नाम कर्म' कहा गया है। 'नामकर्म' का यह पहला प्रकार है।

- नरकगति-नाम कर्म,
- तिर्यंचगति-नाम कर्म,
- मनुष्यगति-नाम कर्म, और
- देवगति-नाम कर्म।

चेतन, जब तक आत्मा को अपने कर्म भुगतने के हैं, उस को चार गति में से किसी भी गति में जन्म लेना ही पड़ेगा। आत्मा को किसी भी गति में जाना ही पड़ता है। गए बिना चलता ही नहीं।

नरक गति का क्षेत्र है अधो लोक। अधो लोक में क्रमशः नीचे-नीचे सात पृथ्वी आई है। क्रमशः उसका क्षेत्र बड़ा है। सातवीं नरक सबसे बड़ी है। पीड़ा और वेदना भी क्रमशः बढ़कर के होती है। नरक में जीव का कम से कम १० हजार वर्ष का आयुष्य होता है। ज्यादा से ज्यादा ३३ सागरोपम (काल का माप है... जिस में असंख्य वर्षों का समावेश होता है) वहाँ रहना पड़ता है। वहाँ जीव का शरीर अति कुरूप होता है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से वहाँ सम्यक् श्रद्धा तक ही जीव का विकास हो सकता है।

- मिथ्यादृष्टि नारक जीव परस्पर एक-दूसरे को दुःख देते हैं।
- दो कुत्तों की तरह नारक जीव एक-दूसरे के साथ लड़ते रहते हैं।
- शस्त्रों के द्वारा एक-दूसरे के टुकड़े कर देते हैं, जिस प्रकार बूचड़खाने में पशु के टुकड़े कर दिए जाते हैं।
- सम्यग्दृष्टि नारकी जीव पीड़ा को तात्विक चिंतन से सहन करते हैं और कर्मक्षय करते हैं।
- मिथ्यादृष्टि नारकी-जीव अति क्रोधावेश से परस्पर कष्ट देते हैं और

नए पाप कर्म बाँधते रहते हैं।

- परमाधामी देव नारकी-जीवों को अनेक प्रकार की पीड़ा देते हैं।

ऐसी नरकगति में ले जानेवाला कर्म होता है नरक-गति नामकर्म।

चेतन, तिर्यंचगति में ले जानेवाला कर्म हैं तिर्यंचगति - नामकर्म। पशु-पक्षी को तिर्यंच कहते हैं।

- तिर्यंच, एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक होते हैं। तिर्यंचगति में अनंत जीव होते हैं।
- पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव तिर्यंच कहलाते हैं।
- तिर्यंच, चतुष्पद होते हैं, खेचर होते हैं, ऊरपरिसर्प और भूजपरिसर्प होते हैं।
- तिर्यंचगति में सब से ज्यादा भय-संज्ञा और आहार-संज्ञा होती है।

चेतन, मनुष्यगति में ले जानेवाला कर्म मनुष्यगति-नामकर्म है। मनुष्य का जन्म ढ़ाई द्वीप में ही होता है। जंबूद्वीप, घातकी खंड और आधा पुष्करवर द्वीप। ढ़ाई द्वीप में ही मनुष्यगति है।

- मनुष्य ही संपूर्ण आध्यात्मिक विकास कर, मुक्ति को पा सकता है।
- मनुष्य ही तीर्थंकरत्व पा सकता है।
- मनुष्य सातवीं नरक में भी जा सकता है।

चेतन, देवगति में ले जानेवाला कर्म देवगति-नामकर्म होता है। मैं तुझे देवगति के विषय में कुछ बातें बताता हूँ।

देव चार प्रकार के होते हैंः

१. भवनपति,

२. व्यंतर,

३. ज्योतिषी, और

४. वैमानिक।

भवन पति १० प्रकार के होते हैंः

असुर, नाग, सुवर्ण, विद्युत, अग्नि, द्वीप, उदधि, दिशि, वायु, स्तनित।

व्यंतरदेव आठ प्रकार के होते हैंः

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गंधर्व।

वाण-व्यंतर देवों की आठ निकाय होती हैः

अणपन्नी, पणपन्नी, इसीवादी, भूतवादी, कंदित, महाकंदित, कोहंड और पतंग।

ज्योतिषि देव पाँच प्रकार के होते हैंः

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा।

बारह वैमानिक देवलोक इस प्रकार हैः

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लांतक, शुक्र, सहस्त्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत।

नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर देवलोक होते हैं।

चेतन, देवलोक में देवियाँ भी होती है। देव-देवी के संभोग कहाँ तक और किस प्रकार होते हैं, यह भी कुछ स्थूल रूप से बता देता हूँ-

- सौधर्म और ईशान देवलोक में काया से मैथुन सेवन होता है,

- सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक में मात्र स्पर्श से मैथुन होता है,

- ब्रह्म और लांतक देवलोक में रूपदर्शन स्वरूप मैथुन होता है,

- शुक्र और सहस्त्रार देवलोक में शब्द श्रवण रूप मैथुन होता है,

- आनत, प्राणत, आरण, अच्युत में मनोयोग से ही मैथुन होता है,

- ग्रैवेयक और अनुत्तरदेव में मैथुन नहीं होता है। देव वीतराग जैसे होते हैं।

चेतन, देव अपनी शक्ति से अपने वीर्य-पुद्गलों को देवी के शरीर में संक्रमित करता है। इससे देवी को सुख का अनुभव होता है, परंतु देव के वैक्रिय वीर्य-पुद्गलों से देवी गर्भ धारण नहीं करती हैं।

- वैसे, सुधर्मा सभा में माणवक चैत्य के डिब्बे में तीर्थंकरों की दाढ़ा रहती है (दांत के अस्थि), उसकी मर्यादा रखते हुए वहाँ देव-देवेन्द्र देवी के साथ संभोग नहीं करते हैं।

- कुछ देव जब तीव्र कामवासना से उत्तेजित होते हैं, अपनी देवी के साथ संभोग करने से तृप्त नहीं होते हैं, कामवासना शांत नहीं होती हैं तब वे अपरिगृहिता (वेश्या जैसी) देवी के पास जाते हैं और उसके साथ कामक्रीड़ा करते हैं। देवलोक में ऐसी अपरिगृहिता देवियाँ लाखों की संख्या में होती है। ये देवियाँ सौधर्म और ईशान देवलोक में ही उत्पन्न होती हैं। वैसे वे सहस्रार देवलोक तक आती जाती रहती हैं।

चेतन, देवलोक का वर्णन बहुत विस्तृत हैं। बड़े-बड़े ग्रंथ हैं देवलोक के विषय में। कभी, जब समय मिले 'बृहत संग्रहणी' पढ़ना। चारों गति के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त होगी। वैसे 'लोक-प्रकाश' ग्रंथ भी पढ़ने योग्य हैं।

'गति' का अर्थ यहाँ क्षेत्र विशेष करना है। गति का अर्थ 'चलना' नहीं करना हैं।

- देवों का क्षेत्र देवगति,

- नारकों का क्षेत्र नर गति,

- मनुष्य का क्षेत्र मनुष्यगति, और

- तिर्यंचों का क्षेत्र तिर्यंचगति हैं।

उस-उस गति में ले जानेवाला कर्म गति-नाम कर्म है।

चेतन, गति-नामकर्म जीव को एक गति में से दूसरी गति में ले जाता हैं, आत्मा स्वतः नहीं जाती!

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३५

प्रिय चेतन,
धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

चार गति के विषय में तेरा अच्छा समाधान हो गया, जानकर संतोष हुआ। तेरा नया प्रश्न विषयानुकूल है। तेरा प्रश्न-

'मनुष्य गति-नामकर्म से जीव मनुष्य गति में जाता है, परंतु वह वणिक जाति में उत्पन्न होगा या ब्राह्मण जाति में उत्पन्न होगा? वह भारतीय जाति में उत्पन्न होगा अथवा अमेरिकन या योरोपीय जाति में उत्पन्न होगा? वह क्षत्रिय जाति में उत्पन्न होगा या क्षुद्र जाति में उत्पन्न होगा? जाति का निर्णय कैसे होता है। वह निर्णय कौन करता है?'

चेतन, जिस प्रकार 'गति' का निर्णय करनेवाला गति-नामकर्म हैं, वैसे जाति का निर्णय करनेवाला जाति-नामकर्म है। जिस समय गति और आयुष्य कर्म बँधते हैं, उस समय जाति नामकर्म भी बँध जाता है। गति के अवांतर विभाग होते हैं जाति के। जाति असंख्य होती हैं, परंतु सभी जातिओं का समावेश पाँच जाति में हो जाता हैं। पाँच जाति का समावेश 'नाम-कर्म' में हो जाता हैं। वे पाँच जाति के नाम निम्न-प्रकार हैं-

१. एकेंद्रिय जाति

२. द्वींद्रियजाति

३. त्रींद्रिय जाति

४. चतुरिंद्रिय जाति

५. पंचेंद्रिय जाति।

इन पाँच प्रकार की जाति की भी अवांतर जातियाँ होती हैं। एकेंद्रिय जाति के अवांतर प्रकारों में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति हैं। इन पाँच प्रकार के भी अवांतर प्रकार होते हैं। किस अवांतर के भी अवांतर प्रकार में जीव को जन्म लेना होगा, यह निर्णय जाति-नामकर्म से ही होता हैं।

मनुष्य जाति विशाल हैं। उसके लाखों अवांतर प्रकार हैं। किस जाति के मनुष्य बनना होगा, यह निर्णय जाति-नामकर्म से होता हैं। इस जाति-नामकर्म, 'यह जीव इस जाति का हैं,' ऐसी प्रसिद्धि करता हैं।

अब, पाँच प्रकार की जाति का सामान्य परिचय करा देता हूँ।

१. एकेंद्रिय जातिः जिन जीवों को एक ही स्पर्शेंद्रिय होती हैं, उन जीवों को एकेंद्रिय जाति के कहे जाते हैं।

२. बेइंद्रिय जातिः जिन जीवों को स्पर्शेन्द्रिय और रसनेंद्रिय होती हैं, वे जीव बेइंद्रिय जाति के कहे जाते हैं।

३. तेइंद्रिय जातिः जिन जीवों को स्पर्शेंद्रिय, रसनेंद्रिय और घ्राणेंद्रिय होती हैं, वे जीव तेइंद्रिय जातिके कहे जाते हैं।

४. चउरिंद्रिय जातिः जिन जीवों को ऊपर की तीन इंद्रियों के साथ चक्षुरिंद्रिय होती हैं, वे जीव चउरिंद्रिय जाति के कहे जाते हैं।

५. पंचेंद्रिय जातिः जिन जीवों को ऊपर की चार इंद्रियों के साथ श्रवणेंद्रिय होती हैं, वे जीव पंचेंद्रिय कहे जाते हैं।

- सभी देव और सभी नारकी के जीव पंचेंद्रिय ही होते हैं।

- सभी मनुष्य भी पंचेंद्रिय होते हैं। पाँचों इंद्रियों के आकार तो होते ही हैं। कभी किसी जीव की श्रवणेंद्रिय काम नहीं करती हैं, किसी जीव की चक्षुरिंद्रिय काम नहीं करती हैं, फिर भी वह पंचेंद्रिय जीव ही कहलाएगा। इंद्रियों की कार्यक्षमता दर्शनावरण कर्म के चक्षु-दर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरण कर्म के माध्यम से होती हैं।

- तिर्यंच गति में पाँचों जाति के जीव होते हैं। एक-एक जाति में असंख्य अवांतर प्रकार के जीव होते हैं। जिस अवांतर जाति का नामकर्म बाँधता है जीव, उसी अवांतर जाति में जीव जन्मता है और उसी जाति से उस जीव का व्यवहार चलता हैं।

चेतन, अपना विशेष संबंध पंचेंद्रिय जाति से होता है। उसमें भी मनुष्य जाति से संबंध होता हैं। मनुष्य में भी ज्यादातर आर्य जाति के साथ संबंध होता है। आर्य जातियाँ भी अनेक प्रकार की होती हैं, उनमें कुछ पाँच-दस

जाति के साथ अपना व्यवहार होता है। इस व्यवहार का नियामक जाति नाम कर्म होता है।

चेतन, भूल मत करना। उच्च जाति, नीच जाति का निर्णय 'गोत्र कर्म' करता है, यानी उच्चता नीचता का निर्णय गोत्र कर्म द्वारा होता है, परंतु 'यह ब्राह्मण है, यह जैन-वणिक है, यह क्षत्रिय है,' ऐसा परिचय करानेवाला जाति-नाम कर्म होता है।

- एकेंद्रिय से चउरिंद्रिय तक की जाति अशुभ है,

- पंचेंद्रिय में भी नारकी की जातियाँ, तिर्यंच की जातियाँ और कुछ मनुष्य की जातियाँ अशुभ मानी गई है।

- देवगति में कुछ देवों की जाति अशुभ मानी गई है।

चेतन, शुभ जाति में जन्म पाने के लिए हमें मन-वचन-काया से शुभ प्रवृति करनी चाहिए। अपनी वर्तमान शुभ जाति का अभिमान नहीं करना और अशुभ जातिवालों की घृणा नहीं करना। यह महत्वपूर्ण बात है। देवों की उच्च जाति में जन्म हो, तो हमारी भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति का भी अवकाश मिल सकता है। उच्च जाति में उत्पन्न जीवों को उत्तम धर्म की प्राप्ति सरलता से होती हैं।

चेतन, मनुष्यगति में, पंचेंद्रियजाति में, उच्च कुल में हमारा जन्म हो, जहाँ तीर्थंकर परमात्मा के दर्शन मिले, मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो और उस मार्ग पर चलने की शक्ति एवं भावना प्राप्त हो, वैसी परमात्मा से प्रार्थना करना!

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३६

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ!

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

'जाति-नाम कर्म' के अनुसार संसार में सभी जीवों को जाति की प्राप्ति होती है। जिस जीव ने जैसा जाति-नाम कर्म बाँधा होगा वैसी जाति-अवांतर

जाति प्राप्त होती है। चेतन, इस विषय में तेरी जो जिज्ञासा थी, उसका समाधान हो गया, जान कर मुझे संतोष हुआ। तेरा नया प्रश्नः

'अभी थोड़े दिनों से मेरे चिंतन का विषय बना है शरीर! कौन से पुद्गलों से हमारे शरीर का निर्माण होता है? कौन करता है शरीर की रचना! सभी मनुष्य समान होते हुए अंग-उपांग की असमानता क्यों? रंगरूप की असमानता क्यों? आज मैं इतनी जिज्ञासाएँ लिखता हूँ, विशेष जिज्ञासाएँ बाद में लिखूँगा।'

चेतन, अब तत्त्वचिंतन का तेरा भीतरी द्वार खुल गया है। तेरे प्रश्न पढ़कर बहुत आनंद हुआ। शरीर-रचना, मनुष्य के शरीर की रचना औदारिक-वर्गणा के पुद्गलों से जीव स्वयं करता है। इसलिए सर्वप्रथम पुद्गलों के विषय में ज्ञान होना अति आवश्यक होता है। प्रत्येक जीवात्मा के साथ आठ पुद्गल-वर्गणाओं का संबंध होता है। इनके नाम इस प्रकार हैं-

- संसार का प्रत्येक जीव कार्मण शरीर से युक्त होता ही है। और 'तैजस शरीर' भी संलग्न होता है। ग्रहण किए हुए आहार को पचाने के लिए तैजस शरीर चाहिए ही।

चेतन, हर मनुष्य और तिर्यंच जीव तीन शरीर से युक्त होता है। आहारक, तैजस और कार्मण शरीर होते हैं।

देव और नारकी को वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर होते हैं।

जिसका जैसा शरीर नाम कर्म होता है, वैसा शरीर-निर्माण होता है। औदारिक वर्गणा के पुद्गल, औदारिक-शरीर नामकर्म के उदय से जीव को प्राप्त होते हैं।

चेतन, शरीर नामकर्म से शरीर बनता है, और अंगोपांग-नामकर्म से शरीर के अंग, उपांग और सभी अवयवों का निर्माण होता है।

- औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों को ही अंगोपांग होते हैं। तैजस और कार्मण शरीर को अंगोपांग नहीं होते हैं।

- दो हाथ, दो पाँव, सिर, पेट, पीठ और छाती - ये हैं शरीर के अंग और अंगुलियाँ, नाक, कान वगैरह उपांग कहलाते

हैं। अंगुलि के पर्व और

हाथ की रेखाओं का समावेश उपांग में होता है।

- अंग और उपांग की उत्पत्ति, इस अंगोपांग नामकर्म से होती है।

- अंगोपांग के उचित स्थान निश्चित करनेवाला नाम कर्म है निर्माण-नाम कर्म। सिर की जगह सिर, पाँव की जगह पाँव और हाथ की जगह हाथ... कान की जगह कान और नाक की जगह नाक... यह स्थाननिर्धारण का काम निर्माण-नामकर्म करता है। कान की जगह नाक नहीं है, नाक की जगह कान नहीं है... हाथ की जगह पाँव नहीं है... पाँव की जगह हाथ नहीं है... क्योंकि निर्माण-नामकर्म होता है। अंगोपांग पर इस कर्म का प्रभाव है, नियमन है।

- अंगोपांग सप्रमाण हो या विषम प्रमाण के होने में निर्णायक

१. औदारिक पुद्गल,

२. वैक्रिय पुद्गल,

३. आहारक पुद्गल,

४. तैजस पुद्गल

५. कार्मण पुद्गल

६. भाषा पुद्गल

७. श्वासोच्छ्वास पुद्गल

८. मन के पुद्गल

ऐसे पुद्गल (आठों प्रकार के) भी अनंत हैं जो जीव को कभी काम नहीं आते! उन पुद्गलों का अस्तित्व मात्र है।

जीव के काम आनेवाले पुद्गल (आठों प्रकार के) भी अनंत होते हैं।

- अनंत परमाणु-पुद्गल का एक स्कंध होता है,

- अनंत पुद्गल-स्कंधों की एक वर्गणा होती है,

- वैसी अनंत पुद्गल-वर्गणायें, आत्मा के एक-एक प्रदेश के साथ लगी हुई होती हैं।

- चेतन, मनुष्य, अपना शरीर बनाने के लिए, गर्भ में उत्पन्न होते ही औदारिक-वर्गणा के पुद्गल ग्रहण करता है और पुद्गलों से शरीर का निर्माण करता है।

- तिर्यंचगति के जीव भी अपने-अपने शरीर की रचना औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से करते हैं।

- देव और नारकी के जीव, वैक्रिय-वर्गणा के पुद्गलों से अपने-अपने शरीर की रचना करते हैं।

- विशिष्ट ज्ञानी पुरुष, विशिष्ट कार्य के लिए 'आहारक' शरीर बनाते हैं और इसलिए वे आहारक वर्गणा के पुद्गल ग्रहण करते हैं। कर्म होता है संस्थान-नामकर्म। संस्थान नाम-कर्म, शरीर के साथ महत्वपूर्ण संबंध रखता है। इसके छः प्रकार बताए गए हैं-

१. समचतुरस्त्र संस्थान,

२. न्यग्रोध-परिमंडल संस्थान,

३. सादि (साची) संस्थान,

४. कुब्ज संस्थान,

५. वामन संस्थान

६. हुंडक संस्थान.

संक्षेप में इन संस्थानों का परिचय देता हूँ।

- समचतुरस्त्र संस्थान के शरीर के सभी अवयव (अंगोपांग) सम होते हैं, सप्रमाण होते हैं। हस्तरेखाएँ शुभ होती हैं।

- न्यग्रोध-परिमंडल संस्थान वाले शरीर में, नाभि-प्रदेश के ऊपर का भाग सुलक्षणयुक्त होता है, नाभि-प्रदेश के नीचे का शरीर प्रमाणयुक्त नहीं होता है। लक्षणयुक्त नहीं होता है।

- सादि संस्थान वाले शरीर में, नाभि से ऊपर का भाग लक्षण-युक्त, सप्रमाण नहीं होता है, नाभि के नीचे का शरीर

सप्रमाण एवं अच्छे लक्षणों से युक्त होता है।

- कुब्ज संस्थान वाले शरीर में, मस्तक, गर्दन, हाथ और पैर वगैरह सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार लक्षणोपेत होते हैं, परंतु छाती, पेट वगैरह लक्षणोपेत नहीं होते!

- वामन संस्थान वाले शरीर में मस्तक, गर्दन, हाथ, पैर वगैरह लक्षणहीन होते हैं, छाती, पेट वगैरह लक्षणयुक्त होते हैं। कुब्ज संस्थान से विपरीत होता है वामन संस्थान।

- हुंडक संस्थान वाला शरीर, प्रमाणोपेत नहीं होता। कोई भी अंगोपांग लक्षणयुक्त नहीं होता है।

संस्थान-नामकर्म के उदय से शरीर के इस प्रकार-आकृति के अंगोपांग मिलते हैं। आकृति का नियमन संस्थान-नामकर्म करता है।

चेतन, 'जीवों में रूप-रंग की असमानता क्यों?' तेरे इस प्रश्न का समाधान कर, यह पत्र पूर्ण करूँगा।

शरीर के अंगोपांग की असमानता का कारण तेरी समझ में आ जाएगा। रूप-रंग की असमानता का कारण है वर्ण-नामकर्म।

वर्ण पाँच प्रकार के बताए गए हैं:

१. रक्त (लाल)

२. पीत (पीला)

३. कृष्ण (काला)

४. नील (हरा)

५. श्वेत (सफेद)

जिस जीव ने जैसा वर्ण-नाम कर्म बाँधा हुआ होता है, उसके शरीर का रंग वैसा होता है। यानी शरीर के वर्ण का आधार वर्ण नाम कर्म होता है।

कोई गोरा होता है, कोई काला होता है,

किसी की चमड़ी लाल होती है, किसी की पीली... इसका कारण होता है जीव का वर्ण-नाम कर्म।

चेतन, जिस प्रकार वर्ण-नाम कर्म होता है वैसे गंध-नामकर्म भी होता है।

इस कर्म के दो प्रकार हैं:

- सुगंध-नाम कर्म।

- दुर्गंध-नाम कर्म।

हाँ, शरीर की सुगंध-दुर्गंध इस नामकर्म पर आधारित होती है। तीर्थंकर, पद्मिनी स्त्री, चक्रवर्ती वगैरह के शरीर सुगंधित होते हैं, कस्तूरीमृग का शरीर सुगंधी होता है, मच्छीमार एवं सूअर वगैरह के शरीर दुर्गंधी होते हैं। पुष्प के जीव प्रायः सुगंधी होते हैं परंतु प्याज, लसून वगैरह दुर्गंधी होते हैं। इस प्रकार वनस्पति के जीवों की सुगंध-दुर्गंध भी गंध-नाम कर्म पर निर्भर होती है।

जिस प्रकार जीवात्मा के शरीर का वर्ण होता है, गंध होती है, वैसे शरीर का रस भी होता है! शरीर का स्पर्श भी होता है।

रस-नाम कर्म के पांच प्रकार होते हैं - मधुर, लवण, काषायिक, तिक्त और कटु। हर जीव के अपने-अपने रस-नामकर्म के अनुसार उसको शरीर का रस मिलता है।

स्पर्श-नाम कर्म के भी आठ प्रकार होते हैं - मृदु-कर्कश, शीत-उष्ण, लघु-गुरु और स्निग्ध-रुक्ष। अपने-अपने कर्म के अनुसार जीव को स्पर्श की प्राप्ति होती है।

चेतन, शरीर-रचना की एक-एक बात जीव के कर्म पर आधारित होती है। आज, बस इतना ही।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३७

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

तेरा नया प्रश्न-

'वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के विषय में मुझे विस्तृत पत्र लिखेंगे तो मुझे आनंद होगा। मनुष्य के जीवन के साथ इन चार बातों का घनिष्ठ संबंध रहा हुआ है। इन बातों को लेकर किसी मनुष्य का दांपत्यजीवन बिगड़ता है, तो किसी का दांपत्यजीवन सुखमय हो जाता है! यदि मनुष्य इतना समझ ले कि ये वर्ण, गंध आदि जीव के बँधे हुए कर्मों का फल है, तो दांपत्य जीवन में राग-द्वेष कम हो सकते हैं, इसलिए कृपा कर, इस विषय को विस्तार से समझाइये।'

चेतन, तेरी बात सही है! मैंने ऐसी कुछ घटनाएँ सुनी हैं, और पढ़ी हैं, रूप, गंध, रस और स्पर्श को लेकर कुछ गृहस्थ जीवन बिगड़े हैं, कुछ सुखी बने हैं।

- एक वकील थे, उन्होंने अपनी सुशील पत्नी का त्याग कर दिया था, चूँकि उसके शरीर का रंग काला था।

- एक श्रीमंत घर के लड़के ने मुसलमान लड़की से 'लव मेरेज' कर लिया था। चूँकि वह लड़की गोरी थी। कुछ महीनों में मालूम हुआ कि उस लड़की का दूसरे तीन-चार पुरुषों के साथ संबंध हैं... उसके पति ने लग्न

विच्छेद कर दिया!

- एक महिला ने अपने पति का घर छोड़ दिया, चूँकि उसके पति का शरीर सदैव शीत रहता था! वह महिला पति का उष्ण स्पर्श चाहती थी।

- एक विद्यार्थी की बेंच पर दूसरे विद्यार्थी इसलिए बैठना पसंद नहीं करते थे, क्योंकि उस विद्यार्थी के शरीर में से दुर्गंध आती थी! वह स्नान कर, स्वच्छ-सुंदर वस्त्र पहन कर आता था, मेधावी था... फिर भी उसके शरीर में से दुर्गंध आती थी। दूसरे लड़के उससे घृणा करते थे। एक दिन उस लड़के ने पढ़ना छोड़ दिया।

- एक काले श्याम रंग की लड़की की सगाई नहीं हो रही थी। परंतु उस लड़की के साथ पढ़े हुए लड़के ने उसके साथ शादी कर ली! चूँकि उस लड़की का स्पर्श मृदु था और रस मधुर था। स्वभाव भी अच्छा था।

दुनिया के लोग शरीर की पसंदगी, विशेष कर रूप, रस, गंध और स्पर्श के माध्यम से करते हैं।

चेतन, अज्ञानी मनुष्य नहीं जानता है कि हर जीव का शरीर पुद्गल से बना हुआ होता है और पुद्गल में रूप, रस, गंध और स्पर्श होते ही हैं। आत्मा में नहीं होता है रूप, नहीं होता है रस, नहीं होती है गंध और नहीं होता है स्पर्श! चूँकि आत्मा पुद्गलात्मक नहीं है, चैतन्य के साथ रूप-रसादि का कोई संबंध नहीं होता। चैतन्य के साथ तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र का संबंध होता है।

चेतन, किसी भी व्यक्ति की पसंदगी का माध्यम रूप-रस-गंध और स्पर्श को नहीं बनाना। ज्ञान, श्रद्धा और संयम को माध्यम बनाना। क्षमा, नम्रता, सरलता वगैरह गुणों को माध्यम बनाना। इस में भी, पति की पसंदगी में अथवा पत्नी की पसंदगी में तो रूप रसादि को माध्यम बनाना ही नहीं, अन्यथा जीवनयात्रा बिगड़ जाएगी। संबंध आत्मा से आत्मा का होना चाहिए। पुद्गल के साथ किया हुआ संबंध, कभी न कभी बिगड़ता ही है।

इन रूप-रसादि का संबंध मात्र मनुष्यों के लिए ही होता है - ऐसा मत समझना। एकेंद्रिय जीवों के साथ भी इन बातों का संबंध है। इस बात को अच्छी तरह समझना।

- अपकाय शीतल होता है,

- अग्निकाय उष्ण होता है।

- पृथ्वीकाय (लोहा आदि) भारी होता है,

- रुई (वनस्पतिकाय) हलका होता हैं!

- मूँग (वनस्पतिकाय) का शरीर रुक्ष होता है,

- एरंडी (वनस्पतिकाय) का शरीर स्निग्ध होता है।

- खरबूजा (वनस्पतिकाय) का शरीर कर्कश होता है।

- तड़बूच (वनस्पतिकाय) का शरीर मृदु होता है।

ऐसे असंख्य उदाहरण इस सृष्टि में मिलेंगे।

चेतन, वर्ण (रूप) के विषय में एक विशेष बात है। एक शरीर में अनेक रंग (कलर) हो सकते हैं। जैसे भ्रमर का रंग काला माना गया है, फिर भी उसका मुँह पीला होता है, खून का रंग लाल होता है! वैसे तोते का रंग हरा माना गया है, फिर भी उसके शरीर में कोई अवयव लाल होता है। कोई अवयव काला होता है। परंतु मुख्य रंग से व्यवहार होता है। तोता हरा कहा जाता है।

इस प्रकार पशु-पक्षी के रंग भी 'वर्ण-नाम कर्म' के आधार पर होते हैं। चेतन, संपूर्ण जीवसृष्टि के वर्ण-गंध-रस और स्पर्श का मूल कारण यह नामकर्म है। ये वर्णादि पुद्गलात्मक होते हैं, उनको लेकर राग-द्वेष करनेवाले जीवों को उपदेश देते हुए एक साधु पुरुष ने कहा है-

कोई गोरा, कोई काला-पीला नयने निरखन की,

वो देखी मत राचो प्राणी! रचना पुद्गल की।

अच्छे रंग-रूप देख कर राग नहीं करना है, मात्र देखना है। बिना राग किए देखना है, बिना द्वेष किए देखना है। चेतन, राग-द्वेष के बिना देखने की कला आ जाएँ तो जीवन सफल हो जाएँ।

दुनिया के कुछ रूप-रंग मात्र देखने के होते हैं। न राग करना है, ना द्वेष करना है। रानी अभया ने श्रेष्ठि सुदर्शन का रूप देखा परंतु राग से देखा, परिणाम कैसा खतरनाक आया? परंतु सुदर्शन अभया का सुंदर रूप देख कर मुग्ध नहीं हुए, रागी नहीं बने, तो उनके ऊपर दैवी कृपा उतर आई!

जैसे पुद्गल का रूप देखकर रागी-द्वेषी नहीं होना है, वैसे पुद्गल का स्पर्श अनुभवकर रागी-द्वेषी नहीं बनना है। हो सके वहाँ तक परपुद्गल को स्पर्श ही नहीं करना। यदि स्पर्श प्रिय लग गया तो वह पाने की इच्छा होगी। दूसरों की पत्नी और दूसरों के रुपये पाने की इच्छा हुई कि विनाश का प्रारंभ हुआ। यदि जीवन का सर्वविनाश नहीं करना है तो पर-पुद्गल के रूपरसादि में राग-द्वेष करना छोड़ो।

चेतन, शरीर निर्माण की प्रक्रिया में

- 'शरीर नामकर्म' कैसे काम करता है, वह बताया,
- 'अंगोपांग नामकर्म' कैसे काम करता है, वह बताया,
- 'निर्माण-नाम कर्म' के विषय में बताया,
- 'संस्थान नाम कर्म' का कार्य बताया, और
- 'वर्ण नाम-कर्म को भी विस्तार से समझाया।

मुझे विश्वास है कि इस पत्र में तेरी जिज्ञासा का समाधान हो जाएगा और भी शरीर-रचना विषयक तेरी जिज्ञासाएँ लिखना। 'कर्मसिद्धांत' के आधार पर तेरा समाधान करने का प्रयत्न करूँगा। शेष कुशल,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३८

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ। गत पत्र से तुझे बहुत संतोष हुआ, जानकर मेरा मन हर्षित हुआ। तेरा नया प्रश्न विषय के अनुरूप है।

'शरीर का आधार शरीर की हड्डियाँ हैं। हड्डियाँ की जोड़ होती हैं। किसी मनुष्य की हड्डियाँ कमजोर होती हैं, किसी की मजबूत होती हैं। किसी मनुष्य की हड्डियाँ की जोड़ (joints) कमजोर होती हैं, किसी की मजबूत होती हैं, इसका कारण क्या होता है? वर्तमानकालीन शरीर-विज्ञान भी इस विषय में कारण बताता है, परंतु सर्वत्र वह कार्य-कारणभाव देखने में नहीं आता है। आप 'कर्म-विज्ञान' के माध्यम से कारण बताने की कृपा करें।'

चेतन, शरीर-रचना की एक-एक बात को ज्ञानी पुरुषों ने स्पर्श किया है। एक-एक बात का कारण बताया है। बुद्धि स्वीकार करे, वैसे कारण बताए हैं। कर्म-विज्ञान वास्तव में परिपूर्ण विज्ञान है।'

चेतन, शरीर हड्डियाँ की मजबूती और कमजोरी का नियामक कर्म है संहनन-नामकर्म। जीव स्वयं यह कर्म बाँधता है और उसी कर्म के अनुसार दूसरे जन्म में उसको हड्डियाँ प्राप्त होती हैं। उसी कर्म के आधार पर हड्डियाँ की जोड़ प्राप्त होती है।

संहनन (संघयण) नामकर्म ६ प्रकार का है-

१. वज्र-ऋषभ-नाराच, २. ऋषभ-नाराच, ३. नाराच, ४. अर्ध नाराच, ५. किलिका, और ६. सेवार्त.

हालाँकि ये ६ प्रकार, शरीर की हड्डियों की जोड़ के विषय में हैं।

१. दो हड्डियाँ परस्पर चिपककर रहती हैं, उसके ऊपर हड्डी की ही पट्टी लगी रहती है। उस पट्टी पर चौथी हड्डी का कील लगा हुआ रहता है। यह कील तीनों हड्डियाँ को बिंधकर रहती है। इससे दो हड्डियों की जोड़ अत्यंत मजबूत होती है। हथोड़ा मारने से भी जोड़ टूटती नहीं है। इस वज्र-ऋषभ-नाराच संघयण को पहला संघयण कहते हैं।

२. प्रथम संहनन की तरह दो हड्डियाँ परस्पर चिपककर रहती है, जैसे बंदरी को चिपककर उसका बच्चा रहता है। इस को 'मर्कटबंध' भी कहते हैं। उन दो हड्डियाँ के ऊपर हड्डी की एक पट्टी रहती है। इस दूसरे प्रकार के संहनन में हड्डी की कील नहीं रहती है। फिर भी दो हड्डियाँ की जोड़ मजबूत होती है।

३. तीसरे संहनन में मात्र दो हड्डियों का मर्कटबंध होता है। उसके ऊपर हड्डी की पट्टी नहीं होती है और हड्डी की कील भी नहीं होती है।

४. चौथे संहनन में एक हड्डी का मर्कटबंध होता है, दूसरी तरफ की हड्डी मात्र एक कील पर टिकी हुई होती है। यानी संपूर्ण मर्कटबंध नहीं होता है। पट्टी और कील तो होते ही नहीं।

५. पाँचवा संहनन है किलिका। दो हड्डियाँ की जोड़ पर मात्र एक कील लगी हुई होती है। एक कील के आधार पर ही दो हड्डियाँ टिकी हुई होती हैं।

६. छट्ठा संहनन है सेवार्त। इसमें दो हड्डियों के छोर भाग परस्पर जुड़े हुए होते हैं। नहीं मर्कट बंध होता है, नहीं पट्टी होती है और नहीं कील होती है। ऐसी हड्डियोंवाला शरीर बहुत सेवा की अपेक्षा रखता है। कभी हड्डियाँ दुःखती हैं, कभी टूटती हैं... इसलिए सेवा-उपचार करना पड़ता है।

चेतन, संहननों का संक्षिप्त परिचय दिया है। वैसे तो सरलता से समझ में आ जायें वैसी बातें हैं, फिर भी कोई बात समझ में नहीं आये तो लिखना।

चेतन, देव एवं नारकी के जीवों को संहनन नहीं होता है। वैसे एकेंद्रिय स्थावर जीवों को भी संहनन नहीं होता है।

हमारे शरीर में (मनुष्य के) जो हड्डियाँ हैं, उसकी जोड़ होती है, इस लिए संहनन होता है। अभी हम सभी का संहनन सेवार्त (नं. ६) होता है। चाहे पहलवान मनुष्य हो, या सामान्य मनुष्य हो। इसलिए अपना शरीर बहुत सेवा की अपेक्षा रखता है। कभी शरीर दुःखता है, कभी कोई हड्डी टूट जाती है... सड़ जाती है, कमजोर हो जाती है।

अपनी हड्डियों के ऊपर 'संहनन नामकर्म' का नियंत्रण है। जीव ने जैसे संहनन नामकर्म बाँधा हुआ होगा, वैसी हड्डियाँ प्राप्त होती हैं।

चेतन, शायद तेरे मन में यह जिज्ञासा भी जगेगी कि शरीर में हड्डियाँ बनती हैं किस कर्म के प्रभाव से?

चेतन, नामकर्म के १०३ प्रकार हैं, उन प्रकारों में एक पर्याप्ति नाम कर्म है। 'पर्याप्ति' के विषय में विस्तार से बाद में लिखूँगा। आज तो मात्र शरीर और शरीर की हड्डियों के विषय में ही लिखता हूँ।

पर्याप्ति का अर्थ होता है शक्ति।

१. आत्मा जिस शक्ति से आहार के पुद्गल ग्रहण करता है वह शक्ति है आहार-पर्याप्ति।

२. जिस शक्ति से जीव शरीर बनाता है, वह है शरीर-पर्याप्ति।

३. जिस शक्ति से जीव इंद्रियों की रचना करता है वह है इंद्रिय-पर्याप्ति।

४. जिस शक्ति से जीव श्वासोच्छ्वास लेने की प्रक्रिया का निर्माण करता है, वह है श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति।

५. जिस शक्ति से जीव भाषा-वर्गणा के पुद्गल ग्रहण कर, बोलने की शक्ति पाता है, वह होती है भाषा-पर्याप्ति।

६. जिस शक्ति से जीव सोचने-विचार करने की क्षमता प्राप्त कर मन बनाता है, वह होती है मनःपर्याप्ति।

चेतन, शरीर एवं हड्डियों का निर्माण दूसरी शरीर-पर्याप्ति से होता है।

यानी पर्याप्त-नाम कर्म के उदय से शरीर रचना होती है। सभी जीवों की एक समान ६ पर्याप्ति नहीं होती है।

- एकेंद्रिय जीवों को ४ (१ से ४) पर्याप्ति होती है।

- बेइंद्रिय-तेइंद्रिय-चउरिंद्रिय जीवों को १ से ५ पर्याप्ति होती हैं।

- पंचेंद्रिय जीवों को सामान्यतया १ से ६ पर्याप्ति होती हैं।

- जो जीव जन्मता है वह जीव १ से ३ पर्याप्ति तो पूर्ण करता ही है। तीन पर्याप्ति पूर्ण किए बिना कोई जीव मरता नहीं है।

- जिन जीवों का 'पर्याप्त-नाम कर्म' नहीं होता है, 'अपर्याप्त नाम कर्म' उदय में आता है, वे जीव अपने योग्य पर्याप्ति पूर्ण किए बिना मर जाते हैं!

- आहार, शरीर और इंद्रिय बनाने के लिए मनुष्य 'औदारिक वर्गणा' के पुद्गल ग्रहण करता है,

- श्वासोच्छ्वास बनाने के लिए उसी 'श्वासोच्छ्वास-वर्गणा' के पुद्गल

ग्रहण करता है।

- भाषा के लिए 'भाषावर्गणा' के पुद्गल ग्रहण करता है,

- मन के लिए 'मनोवर्गणा' के पुद्गल ग्रहण करता है। चेतन, इन बातों पर शांति से चिंतन करना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ३९

चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ। 'पर्याप्ति' विषय तेरे लिए नया है, इसलिए, एक बार पढ़ने से तेरे पल्ले नहीं पड़ेगा। दो-तीन बार तुझे पढ़ना होगा। तू अवश्य समझ जाएगा। तेरा नया प्रश्न-

'आपने गत पत्र में लिखा कि जीव औदारिक वर्गणा के पुद्गल ग्रहण कर, आहार, शरीर और इंद्रियाँ बनाता है, बाद में श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण करता है, तो क्या शरीर के औदारिक वर्गणा के साथ उन श्वासोच्छ्वास वगैरह पुद्गलों का संबंध हो सकता है?'

चेतन, हो सकता है संबंध। वह संबंध करानेवाला भी "बंधन" नाम का नामकर्म है। वह बंधन नामकर्म दो प्रकार के संबंध करवाता हैः

१. शरीर रूप बने हुए औदारिक पुद्गलों के साथ नए पुद्गलों का संबंध करवाता है और

२. औदारिक पुद्गलों के साथ तेजस और कार्मण वगैरह वर्गणा के पुद्गलों का भी संबंध करवाता है।

चेतन, शरीर के पुद्गलों के परस्पर बंधन १५ प्रकार के होते हैं, इस दृष्टि से बंधन नामकर्म भी १५ प्रकार का होता है। आज मैं क्रमशः उन १५ प्रकार के बंधन नामकर्म का स्वरूप समझाता हूँ-

१. औदारिक-औदारिक बंधन - जिन औदारिक पुद्गलों से शरीर बनता है, उन पुद्गलों के साथ, नए औदारिक, पुद्गल के, जो जीव ग्रहण करता

रहता है (आहार वगैरह) उन का संबंध करानेवाला यह नामकर्म है।

२. वैक्रिय-वैक्रिय बंधन - देवों का एवं नारकों के जीवों का शरीर वैक्रिय पुद्गलों से बनता है। उस वैक्रिय शरीर के साथ, नए वैक्रिय पुद्गलों का संबंध यह बंधन नामकर्म करवाता है। नए पुराने वैक्रिय पुद्गलों का सम्मिश्रण हो जाता है।

३. आहारक-आहारक बंधन - जिन आहारक - पुद्गलों से आहारक शरीर बनता है, उसके साथ नए आहारक पुद्गलों का संबंध यह कर्म करवाता है।

४. औदारिक तेजस बंधन - औदारिक शरीर के पुद्गलों के साथ तेजस वर्गणा के पुद्गलों (तेजस शरीर के) का संबंध यह कर्म करवाता है।

५. वैक्रिय-तेजस बंधन - वैक्रिय शरीर के पुद्गलों के साथ तेजस शरीर के तेजस वर्गणा के पुद्गलों का संबंध करानेवाला यह नामकर्म है।

६. आहारक तेजस बंधन - आहारक शरीर के पुद्गलों के साथ भी तेजस शरीर का होना आवश्यक तो है ही। दोनों शरीर के पुद्गलों का सम्मिश्रण यह नामकर्म करवाता है।

७. औदारिक-कार्मण बंधन - हर जीवात्मा के साथ कार्मण शरीर तो होता ही है। जब जीव औदारिक शरीर बनाता है, तब औदारिक पुद्गल आते हैं। कार्मण पुद्गलों के साथ औदारिक पुद्गलों का संबंध (संमिश्र) होना आवश्यक होता है। यह

संबंध यह कर्म करवाता है।

८. वैक्रिय-कार्मण बंधन - कार्मण शरीर के पुद्गलों के साथ वैक्रिय शरीर के पुद्गलों का संबंध करानेवाला यह कर्म है।

९. आहारक-कार्मण बंधन - कार्मण शरीर के पुद्गलों के साथ आहारक शरीर के पुद्गलों का संबंध करानेवाला यह कर्म है।

१०. औदारिक-तेजस-कार्मण बंधन - जीव के साथ तेजस शरीर और कार्मण शरीर तो होते ही है। मृत्यु के बाद दूसरी गति में जाते समय भी ये दो शरीर जीव के साथ रहते हैं। जब जीव दूसरी गति में जाते ही औदारिक शरीर बनाता है तो औदारिक पुद्गलों का तेजस कार्मण वर्गणा के पुद्गलों

के साथ संबंध होता है। वह संबंध करानेवाला यह कर्म होता है।

११. वैक्रिय-तेजस-कार्मण बंधन - तेजस कार्मण वर्गणा के पुद्गलों के साथ वैक्रिय पुद्गलों का सम्मिश्रण करानेवाला यह बंधन नामकर्म होता है।

१२. आहारक-तेजस कार्मण बंधन - तेजस कार्मण वर्गणा के पुद्गलों के साथ आहारक शरीर के आहारक पुद्गलों का संबंध यह कर्म करवाता है।

१३. तेजस-तेजस बंधन - पहले के तेजस शरीर के पुद्गलों के साथ जो नए तेजस-वर्गणा के पुद्गल आते हैं, वे जुड़ जाते हैं, एकाकार हो जाते हैं, यह काम यह कर्म करता है।

१४. कार्मण-कार्मण बंधन - आत्मा के साथ संलग्न कार्मण शरीर के साथ नए कार्मण पुद्गलों का संबंध करानेवाला यह कर्म है। शरीर और कार्मण शरीर का संबंध अनादिकालीन होता है। नए-नए कार्मण वर्गणा के पुद्गल जुड़ते जाते हैं। जोड़ने का काम यह नामकर्म करता है।

१५. तेजस कार्मण बंधन - तेजस और कार्मण शरीर एक-दूसरे से जुड़े हुए होते हैं। उसमें नए-नए तेजस-कार्मण वर्गणा के पुद्गल जुड़ते रहते हैं, जोड़ने का काम यह कर्म करता है।

चेतन, जिन-जिन पुद्गलों से शरीर बनता है, उन पुद्गलों के साथ परस्पर एकरस होना अनिवार्य होता है। अन्यथा शरीर का निर्माण हो ही नहीं सकता। पुराने पुद्गल नष्ट होते जाते हैं, नए पुद्गल जीव ग्रहण करता जाता हैं, तभी शरीर टिकता है।

- जिस प्रकार हर जीव के शरीर भिन्न-भिन्न होते हैं उसी प्रकार ये बंधन नाम कर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

- प्रत्यक्ष रूप से औदारिक और वैक्रिय शरीर ही होते हैं। तेजस और कार्मण शरीर परोक्ष होते हैं। अपने शरीर में रहे हुए उन दो शरीर को हम स्वयं नहीं देख पाते हैं। कार्य से कारण का अनुमानकर उन दो शरीरों का अस्तित्व मानते हैं। पूर्ण ज्ञानी ही उन शरीरों को प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

चेतन, आत्मा के साथ जो हमेशा रहनेवाले हैं वे तेजस और कार्मण शरीर परोक्ष रहते हैं। जो शरीर बदलते रहते हैं, उनको महत्व दिया गया है।

एक दिन नष्ट होनेवाले औदारिक एवं वैक्रिय शरीर को प्रत्यक्षता प्राप्त होती है।

जीवन-व्यवहार में यदि इस बात का अनुकरण हो तो घर में एवं समाज में शांति रह सकती है। घर के सदस्य कि जो स्थाई हैं, वे ज्यादा महत्व की अपेक्षा नहीं रखें, महत्व दूसरों को मिले, तो उसमें नाराज न हो और नवागन्तुक को अपने में मिला ले... तो कोई झगड़ा हो नहीं सकता है। घर और समाज की शान बढ़ती है।

जब साथ रहनेवाले शिकायत करते हैं 'हम सदैव साथ रहते हैं, फिर भी हमारी कदर नहीं है...और जो बहू नयी आई है, उसके मान-पान ज्यादा हो रहे हैं...।' तब घर में एकरसता नहीं रहेगी। ठीक है, नवागंतुकों को महत्व मिले...हम उनके साथ मिल जाएँगे।

यह काम घर का कोई सदस्य "बंधन नामकर्म" का काम करे तो हो सकता है।

मैं समझता हूँ कि तेरे प्रश्न का समाधान हो जाएगा।

शेष कुशल,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४०

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला,

इसलिए विशेष आनंद हुआ कि तू अब सूक्ष्म पदार्थों का भी चिंतन करने लगा है। इस प्रकार का चिंतन तेरे मनोयोग को विशुद्ध करता रहेगा और अनंत-अनंत कर्मों की निर्जरा होती रहेगी।

तेरा नया प्रश्नः

'पाँच शरीरों के निर्माण के लिए भिन्न-भिन्न पुद्गल जीव ग्रहण करता है। क्या जीवात्मा पुद्गल-परमाणुओं को वैसे ही ग्रहण करता है जिस स्थिति में वे होते हैं, अथवा परमाणुओं में कोई परिवर्तन होता है?'

चेतन, परमाणु जब तक अलग-अलग होते हैं तब तक ये परमाणु शरीर रचना में काम नहीं आते। परमाणुओं का जब समूह बनता है तब परमाणुओं की 'वर्गणा' बनती है। उन अनंत परमाणुओं की बनी हुई वर्गणाओं में से कुछ वर्गणायें ही शरीर बनाने में काम आती हैं।

परमाणुओं में जत्था होने का गुण होता हैं, परंतु जीव को जो शरीर बनाना होता है, उसके लिए योग्य परमाणु-वर्गणाओं में रहे हुए परमाणु परस्पर किस प्रकार मिलते हैं और वे वर्गणाएं निश्चित जीवात्मा को ही मिलती है, यह निर्णय 'संघातन नामकर्म' करता है।

- अलग अलग परमाणुओं का समूह बनता है, तब अनंत परमाणु समूह रूप बनते हैं, समूह रूप होने का गुण (संघात रूप होने का गुण) परमाणुओं में होता ही है, परंतु किस प्रकार परमाणु समूह रूप यानी संघात रूप होते हैं, वह कार्य 'संघातन-नामकर्म' करता है।

- सभी जीव का 'संघातन नामकर्म' अपना-अपना होता है। उस कर्म के

अनुसार पुद्गल-वर्गणा के परमाणु परस्पर संघटित होते हैं, परस्पर एकरूप होते हैं, वैसी पुद्गल-वर्गणा ही जीव ग्रहण कर, अपना शरीर बनाता है।

चेतन, पुद्गल परमाणुओं में इस प्रकार परिवर्तन होता है। जब अनंत परमाणु का संघटन होता है, वर्गणा बनती है, तब शरीर रचना के लिए वे वर्गणायें जीव ग्रहण करता है। किस जीव को कितनी पुद्गल-वर्गणा चाहिए, उस का निर्णय भी संघातन नामकर्म करता है। यह कर्म जीव का ही होता है पुद्गल-परमाणुओं का नहीं होता है। जीव के संघातन-कर्म के अनुसार, उन-उन पुद्गलों में परिवर्तन होता है और उस-उस जीव के लिए योग्य बनते हैं।

यह 'संघातन नामकर्म' पाँच प्रकार का होता है।

पहला है औदारिक संघातनः औदारिक शरीर के लिए ग्राह्य वर्गणाओं के परमाणुओं का संघात-गुण प्रगट करनेवाला नामकर्म।

दूसरा है वैक्रिय संघातनः वैक्रिय शरीर के लिए ग्राह्य वर्गणाओं का संघात-गुण प्रगट करनेवाला नामकर्म।

पाँचवा है कार्मण संघातनः कार्मण शरीर के लिए ग्राह्य वर्गणाओं के परमाणुओं का संघात-गुण प्रगट करनेवाला नामकर्म।

तात्पर्यार्थ यह हैः उस शरीर के लिए ग्रहण की हुई पुद्गल वर्गणाओं में रहे हुए परमाणुओं का परस्पर पिंडीभाव यह 'संघातन नामकर्म' करता है।

- अलग-अलग शरीर की नई-पुरानी वर्गणाओं का मिश्रण करने का कार्य 'बंधन नामकर्म' करता है।

- उन-उन परमाणु वर्गणाओं को शरीर रूप प्रदान करने का कार्य 'शरीर पर्याप्ति' नामकर्म करता है।

- शरीर की हड्डियों को सबल-निर्बल करने का कार्य 'संघयण नामकर्म' करता है।

- शरीर की आकृति-संस्थान तराशने का कार्य 'संस्थान नामकर्म' करता है।

- शरीर में अंगोपांग उत्पन्न करने का कार्य 'अंगोपांग नामकर्म' करता है।

- अंगोपांगों का स्थान निर्धारित करने का कार्य 'निर्माण नामकर्म' करता है।

- पाँच इंद्रियों की रचना 'इंद्रिय-पर्याप्ति नामकर्म' करता है।

- शरीर का रूप, गंध, रस और स्पर्श निश्चित करनेवाला 'वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-नामकर्म' है।

चेतन, एक शरीर बनने में कितने प्रकार के कर्म काम करते हैं? शरीर विषयक चिंतन करें तो इतनी सारी बातों का चिंतन करना। शरीररचना में काम आनेवाला कर्मों के विषय में चिंतन करना। कर्मों की अदृश्य सत्ता कितना काम कर रही है। जैसे-जैसे गहराई में जाएगा.. तू रोमांचित होता जाएगा!

चेतन, कर्मसिद्धांत के विषय में, आज के विषय के अनुकूल कुछ बातें लिखता हूँ। ध्यान से पढ़ना और स्मृति में भर लेना।

- आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं,

- एक-एक आत्म प्रदेश के साथ अनंत 'कार्मण वर्गणा' लगी हुई हैं,

- एक-एक कार्मण वर्गणा में अनंत-अनंत 'स्कंध' होते हैं,

- एक-एक स्कंध में अनंत-अनंत परमाणु होते हैं,

- जब तक आत्मा के साथ संलग्न नहीं होते हैं तब तक वे स्कंध कार्मण-वर्गणा ही कही जाती है। जिस समय आत्मा के साथ वह कार्मण वर्गणा लगती हैं, उसका नाम 'कर्म' हो जाता है।

चेतन, जब इस पत्र में 'वर्गणा' के विषय में लिखा है, तो उस विषय में विशेष रूप से कुछ लिखता हूँ:

- सर्वज्ञ की बुद्धि से भी जिसके दो भाग नहीं हो सकते वैसे पुद्गल को 'परमाणु' कहते हैं। वैसे अलग-अलग परमाणु विश्व में अनंत है। ऐसे अलग-अलग परमाणुओं की एक वर्गणा समझें।

- दो-दो परमाणु इकट्ठे हों, वैसे भी अनंत परमाणु हैं, उसकी दूसरी

वर्गणा समझें।

- तीन-तीन परमाणु इकट्ठे हों, वैसे अनंत परमाणु हैं, उसकी तीसरी वर्गणा समझें।

इस प्रकार चार-चार परमाणु इकट्ठे होते हैं, पाँच-पाँच, छः-छः, सात-सात और यावत् संख्याता परमाणु के स्कंध, असंख्यात परमाणु के स्कंध एवं अनंत-अनंत परमाणु के स्कंध होते हैं। अंतिम वर्गणा में अनंत स्कंध होते हैं। एक-एक स्कंध में अनंत परमाणु होते हैं।

- एक-एक अलग परमाणु से लगाकर अनंत परमाणुवाले स्कंध की बनी हुई वर्गणा तक, सभी वर्गणायें भी अनंत होती हैं।

- औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस, कार्मण, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन- इन आठों प्रकार की पुद्गल-वर्गणायें अनंत-अनंत होती हैं।

चेतन, पुद्गल-परमाणुओं की भी एक विशालतम सृष्टि है। चिंतन का अटल खज़ाना है इस सृष्टि में!

चिंतन करना इन बातों पर-

शेष कुशल,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४१

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

पुद्गल-परमाणु की एवं स्कंध-वर्गणा की बातें सूक्ष्म चिंतन की बातें हैं। मेरा वह गत पत्र तुझे तीन-चार बार पढ़ना होगा। फिर भी जो बातें तेरी समझ में नहीं आएँगी, वे बातें प्रत्यक्ष जब मिलेगा, तब समझाऊँगा।

तेरा नया प्रश्नः

'मनुष्य की मृत्यु होती है यानी उस का औदारिक शरीर छूट जाता है, तेजस और कार्मण शरीर के साथ आत्मा अपनी निर्धारित गति में जाता है। कैसे जाता है? आकाश में कोई मार्ग है क्या? उस मार्ग पर आत्मा भूली न पड़ ज़ाए, इधर-उधर भटक ना जाएँ, उसके लिए कोई कर्म पथप्रदर्शक होता है क्या? एक गति में से दूसरी गति में जाने में कितना समय लगता है? आत्मा ने जिस गति का कर्म बाँधा हो, उसी गति में जाती है? रास्ते में भटकती रहती तो नहीं है न?'

चेतन, जीव का आयुष्य पूर्ण होने पर उसकी मृत्यु होती है। चार गति के सभी जीव की मृत्यु होती है। मृत्यु के बाद

उस जीव को, जिस गति का आयुष्यकर्म उसने बाँधा होगा, उस गति में उसको जाना ही पड़ता है। रास्ते में वह औदारिक या वैक्रिय शरीर से मुक्त होता है। मात्र तेजस शरीर और

कार्मण शरीर होते हैं आत्मा से संलग्न।

एक गति से दूसरी गति में जाने का रास्ता होता है आकाश में। आकाश एक विशालतम प्रदेश है। उस आकाश-प्रदेश में अनेक मार्ग होते हैं। जैसे हवाई-जहाज (प्लेन) के मार्ग आकाश में निश्चित होते हैं। एक जगह से दूसरी जगह जाने का आकाशमार्ग निश्चित होता है, वैसे आत्मा को एक गति में से दूसरी गति में जाने के मार्ग होते हैं, 'आकाशप्रदेश की श्रेणी' कहते हैं मार्ग को।

मृत्यु के बाद, आत्मा जब शरीर छोड़कर निकलती है, वह सीधे मार्ग से चलती है। बाद में मोड़ आते हैं। एक मोड़, दो मोड़, तीन मोड़ आते हैं। मोड़ पर आत्मा गलत श्रेणी पर (मार्ग पर) चली न जायं इसलिए वहाँ जीव का 'आनुपूर्वी-नामकर्म' खड़ा रहता है। जीव को जहाँ जाना है, उस मार्ग पर (श्रेणी) चढ़ाता है। 'ट्राफिक पुलिस' का काम करता है। हर मोड़ पर आनुपूर्वी-कर्म हाजिर रहता है! प्रत्येक जीव का अपना-अपना यह 'ट्राफिक-पुलिस' होता है। यानी प्रत्येक जीव का आनुपूर्वी कर्म बँधता है। अपनी-अपनी निर्धारित गति के अनुसार यह कर्म बँधता है। गति चार हैं इसलिए यह कर्म भी चार प्रकार का होता है।

१. नारक आनुपूर्वीः नरक में जाता हुआ जीव, आकाशमार्ग से गुजरता है, जहाँ मोड़ आता है, वहाँ यह कर्म जीव को रुकने नहीं देता है, अथवा गलत रास्ते पर जाने नहीं देता है। यह कर्म जीव को नरक की ओर मोड़ता है और नरक में पहुँचाता है।

२. देव आनुपूर्वीः जिस जीव ने देवगति का आयुष्यकर्म बाँधा है उसको मृत्यु के बाद आकाशमार्ग से ही देवगति में जाना पड़ता है। जहाँ मोड़ आते हैं, यह कर्म जीव को मार्गदर्शन देता है और देवगति में पहुँचाता है।

३. मनुष्य आनुपूर्वीः जिस जीव ने मनुष्य गति का आयुष्य कर्म बाँधा है, वह मृत्यु के बाद मनुष्यगति में, जहाँ उसको उत्पन्न होना है, उधर जाता है। आकाशमार्ग से जाता है। मोड़ तो आते ही रहते हैं, उस मोड़ पर यह कर्म उदय में आता है, और जीव को मनुष्यगति में जहाँ... जिस मनुष्यक्षेत्र में... जिस देश में... जिस नगर में... जिस घर में... जिस जगह जन्म लेना होता

है, वहाँ पहुँचाता है! ज्यादा से ज्यादा तीन मोड़ आते हैं।

४. तिर्यंच आनुपूर्वीः जिस जीव ने तिर्यंचगति का आयुष्य कर्म बाँधा है, उसको, मृत्यु के बाद निश्चित जगह जाना होता है। आकाशमार्ग से जीव गुजरता है। मोड़ आते हैं रास्ते में। यह कर्म जीव को मार्गदर्शन करता हुआ उत्पत्ति-जगह पहुँचाता है!

कुदरत के साम्राज्य में सब काम कितने व्यवस्थित हैं चेतन? पूर्ण ज्ञानी पुरुषों के बिना, ऐसी अगोचर बातें कौन बता सकता है? चेतन, ज्यादा से ज्यादा ४ अथवा ५ समय में जीवात्मा दूसरी गति में, उत्पत्ति-स्थान में पहुँच जाती है। आकाशमार्ग से वह जाती है... रास्ते में मोड़ आते हैं, कभी दो, कभी तीन! बस, ज्यादा नहीं! ये बातें निश्चित और सत्य हैं।

चेतन, कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु और जन्म के बीच जीवों को भटकना पड़ता है... दूसरी गति में जल्दी जन्म नहीं होता है। वगैरह बातें चलती है। मानना नहीं है ऐसी बातों को! मृत्यु और जन्म के बीच ज्यादा से ज्यादा ४ या ५ 'समय' लगते हैं।

चेतन, 'समय' जिनागमों का पारिभाषिक शब्द है। काल का सूक्ष्मतम भाग को 'समय' कहा गया है। जिस प्रकार दुनिया के व्यवहार में 'सेकंड' काल का सूक्ष्म भाग कहा गया है। परंतु वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला में एक सेकंड के भी हजारों टुकड़े किए गए हैं और सूक्ष्मतम भाग खोज निकाला है। परंतु वे लोग 'समय' तक नहीं पहुँच पाए हैं।

'समय' को समझाने के लिए ज्ञानी पुरुषों ने कुछ उदाहरण दिएं हैं ताकि सामान्य बुद्धिवाला मनुष्य भी 'समय' का काल नाप समझ सके।

एक उदाहरण यह हैः एक के ऊपर एक, ऐसे सौ दो सौ कमलपत्र रखे जायं और उसके ऊपर शक्तिशाली पुरुष भाले का प्रहार कर, सभी कमलपत्रों को बिंध डाले - इतनी क्रिया में असंख्य समय बीत जाते हैं!

दूसरा उदाहरणः जीर्ण वस्त्र हो और शक्तिशाली पुरुष हो, वह पुरुष उस वस्त्र के दो टुकड़े कर देता है, उसमें असंख्य समय बीत जाते हैं! 'समय' काल का सूक्ष्मतम विभाग है। समय के दो टुकड़े केवलज्ञानी की दृष्टि से

भी होते नहीं है।

एक गति में से दूसरी गति में जाती हुई आत्मा को ज्यादा से ज्यादा ४/५ समय ही लगते हैं! चेतन, कितनी तीव्रगति से आकाश-पथ में जीवों का गमनागमन होता है! प्रतिक्षण, चार गति में असंख्य-अनंत जीवों का जन्म-मृत्यु होता रहता है! आकाशमार्गो पर भारी भीड़ होती है जीवों की! फिर भी कोई अकस्मात वहाँ नहीं होता है, कोई जीव भूला नहीं पड़ता है! अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच ही जाते हैं! निश्चित समय में पहुँच जाते हैं। कभी कोई जीव को देरी नहीं होती है।

चेतन, कर्मों की, इस अनंत सृष्टि में कैसी परिपूर्ण व्यवस्था है? सब 'ओटोमेटिक' स्वचालित चलता है। कोई ईश्वर की जरुरत नहीं है विश्व संचालन के लिए! कोई 'ओपरेटर' नहीं चाहिए! सब कुछ स्वसंचालित है! सभी जीवों के अपने-अपने 'कर्म' होते हैं!

आनुपूर्वी-नामकर्म का कार्य समझ लिया न? एकगति में से दूसरी गति में सलामत ढंग से जीव को पहुँचा देता है! आकाश मार्ग से ले जाता है।

कुशल रहना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४२

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला। तेरे प्रश्न का समाधान मिला, तुझे बहुत आनंद हुआ और तेरे चिंतन में विकास हुआ, जानकर मुझे संतोष हुआ।

तेरा नया प्रश्नः

'रात्रि के समय, दर्शनावरण कर्म के विषय में चिंतन करते करते 'थिणद्धि' निद्रा के विषय में रुकावट आ गई। 'थिणद्धि' निद्रा के विषय में पुनः समझाने की कृपा करें।'

चेतन, पाँच प्रकार की निद्राओं में अधमाधम-निकृष्ट निद्रा है थीणद्धि।

इसका दूसरा नाम 'थीणगिद्धि' भी है। संस्कृत भाषा में 'स्त्यानर्द्धि' अथवा स्त्यानगृद्धि भी कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में इस निद्रा को - Somnambulism कहते हैं।

'थीणगिद्धि' शब्द का प्रयोग 'ठाणांग सूत्र' (स्थान-९) में, उत्तराध्ययन सूत्र (अध्ययन ३३, गाथा-५) में एवं विशेषावश्यक भाष्य (गाथा-२३४) में मिलता है।

'थीणद्धि' शब्द का प्रयोग 'समवायांग सूत्र' में मिलता है। जिस मनुष्य को इस 'स्त्यानद्धि' निद्रा का उदय होता है उसको 'स्त्यानर्द्धिक' कहते हैं। प्राकृत भाषा में उसको 'थीणद्धिय' कहते हैं। यह शब्द 'विशेषावश्यक भाष्य' की २३५ वीं गाथा में एवं निशीथ भाष्य की १३५ वीं गाथा में हुआ है। दोनों गाथायें समान है!

पोग्गल-मोदय-दन्ते फरुसग-बड़ साल भज्जने चेव।

थीणद्धियस्स एए दिट्ठंता होंति नायव्वा।।

इसी गाथा में 'थीणद्धि' निद्रा को समझाने के पाँच दृष्टांतों के नाम बताए गए हैं।

१. मांस खानेवाला

२. मोदक खानेवाला

३. हाथीदाँत निकालनेवाला

४. कुंभकार

५. वटवृक्ष की शाखा तोड़नेवाला.

चेतन, ये पाँच दृष्टान्त मैं लिखता हूँ। इन द्रष्टांतों के माध्यम से 'थीणद्धि' निद्रा का स्वरूप तू समझ पाएगा।

१. एक गाँव में एक पटेल-किसान रहता था। उसको मांस खाना बहुत प्रिय था। कच्चा मांस भी खा जाता था।

एक दिन उस गाँव में गुणवान और ज्ञानी साधु पुरुष गए। वह किसान साधु पुरुषों के परिचय में आया। साधुओं ने उसको उपदेश दिया। मांसाहार के अनिष्ट समझाए। संसारवास के दुःख समझाए। किसान संसार के प्रति विरक्त बना। साधुओं ने उसको भागवती दीक्षा दी, किसान साधु बन गया। साधुओं के साथ वह विहार करता हुआ गाम-गाम, नगर-नगर

जाता है।

एक गाँव के बाहर कुछ मांसाहारी लोग भैंसें को मार रहे थे, चीर रहे थे। उस किसान-मुनि ने वह दृश्य देखा। उसके पूर्व संस्कार जागृत हुए। मांस खाने की तीव्र इच्छा हुई। वह इच्छा रात की अंतिम क्रिया संथारा-पौरूषी करने तक शांत नहीं हुई। सोते समय भी वही मांसाहार की इच्छा बनी रही। रात्रि में 'थीणद्धि' निद्रा का उदय हुआ। वह किसान साधु निद्रा में ही खड़ा हुआ। गाँव के बाहर जहाँ भैंसों का समूह था वहाँ गया। एक भैंसें को मारकर उसका मांस खाने लगा। पेट भर गया। जो मांस बचा था, वह लेकर उपाश्रय में आया। मांस उपाश्रय में डालकर वह सो गया। सुबह गुरु को कहाः 'मुझे आज रात्रि में ऐसा-ऐसा मांसाहार का स्वप्न आया।' परंतु साधुओं ने उपाश्रय के एक भाग में पड़ा मांस देखा। एवं साधु के वस्त्र पर, मुँह पर खून के दाग देखे। सभी साधुओं ने निर्णय किया कि इस किसान साधु को 'थीणद्धि' निद्रा का उदय है, इसलिए यह चारित्र-धर्म के योग्य नहीं है। मुनिवेश लेकर उसको गृहवास में भेज दिया।

२. दूसरा दृष्टांत दिया गया है मोदक खानेवाले साधु का। एक साधु

गोचरी लेने गाँव में गया। एक घर में साधु ने एक थाल में जमाए हुए स्निग्ध, सुवासित एवं मनोरम मोदक देखे। साधु वहाँ खड़ा रहा। दीर्घकाल तक मोदकों को लुब्ध भाव से देखता रहा। परंतु किसी ने उसको मोदक नहीं दिया। वह साधु निराश होकर उपाश्रय गया। मोदक की तीव्र इच्छा लेकर साधु रात्रि में सो गया।

रात्रि में 'थीणद्धि' निद्रा का उदय हुआ। वह खड़ा हुआ। उस मोदकवाले घर के पास गया। घर का द्वार तोड़कर घर में गया। मोदक पेटभर खाए। जो बचे वे पात्र में भरकर उपाश्रय आए। पात्र एक जगह रख दिया और वे सो गए। सुबह में सारी बात प्रगट हो गई। गुरु ने उसका मुनिवेश ले लिया।

अब तीसरा दृष्टांत हाथी के दाँत निकालनेवाले साधु का बताता हूँ।

एक साधु-मुनिराज जंगल में से गुजर रहे थे। रास्ते में एक हाथी ने साधु को बहुत परेशान किया। बड़ी मुश्किल से बचकर वे साधु उपाश्रय आए। उनके मन में उस हाथी के प्रति प्रचंड रोष था। बदला लेने की तीव्र इच्छा थी। उन का क्रोध उपशांत नहीं हुआ। वे सो गए।

निद्रा में ही 'थीणद्धि' निद्रा का उदय हुआ। नींद में ही वे खड़े हुए। उनके शरीर में प्रबल शक्ति उत्पन्न हुई। वासुदेव की शक्ति से आधी शक्ति उत्पन्न हुई। वे साधु नगर के द्वार पर आए, द्वार तोड़ दिए। उस हाथी के पास गए। हाथी को मार डाला। उसके दो दाँत निकाल लिए और उपाश्रय में आए। हाथी के दो दाँत एक तरफ रखकर, वे वापस संथारे में सो गए।

सुबह जागकर उस साधु ने अपने गुरुदेव से कहा कि मुझे ऐसा-ऐसा स्वप्न आया। गुरुदेव ने हाथी के दो दाँत देखे और साधु का शरीर खून से सना हुआ देखा। गुरुदेव ने सोचा 'इस साधु को 'थीणद्धि' निद्रा का उदय है,' उसका साधुवेश ले लिया गया और उसको गृहवास में भेज दिया गया।

चेतन, 'थीणद्धि' निद्रा के विषय में चौथा दृष्टांत एक कुंभार का बताया गया है।

कुंभार ने दीक्षा ली। वह साधु बन गया! रात्रि के समय निद्रा में ही उस साधु को 'थीणद्धि' निद्रा का उदय हुआ। पूर्वावस्था में वह कुंभार था, मिट्टी

के पिंड बनाना-तोड़ना... उसका अभ्यास था। उस साधु ने पास में सोए हुए साधुओं के मस्तकों को मिट्टी के पिंड समझकर तोड़ना शुरू किया। उपाश्रय के एक कोने में मस्तकों का ढेर कर दिया। प्रातः गुरु को एवं बचे हुए साधुओं को खयाल आ गया कि 'इस कुंभार साधु को थीणद्धि-निद्रा का उदय हुआ है, उसका साधु का वेष ले लिया गया और उसको निकाल दिया गया।

चेतन, पाँचवा दृष्टांत भी एक साधु का है।

एक साधु नगर के बाहर अनेक साधुओं के साथ रहते थे। भिक्षा लेने वे गाँव में जाया करते थे। एक दिन जब वे भिक्षा लेकर उद्यान में आ रहे थे, रास्ते में एक वटवृक्ष की डाली से टकरा गए। सिर में चोट आई। उनको उस वृक्ष की डाली पर बहुत गुस्सा आया। गुस्से के साथ ही वे रात्रि में सो गए। थोड़ी देर के बाद उसके मन में 'थीणद्धि' निद्रा का उदय हुआ। वे खड़े होते हैं, उस वृक्ष के पास जाते हैं। वृक्ष की जो डाली उनको लगी थी, उस डाली को तोड़कर वे उपाश्रय में ले आए। द्वार पर ही डाली को डालकर वे सो गए। प्रभात में उस साधु को रात्रि की घटना मात्र स्वप्न लगा। उन्होंने गुरु को कहा। गुरु ने डाली को उपाश्रय के आगे पड़ी हुई देखी और उस साधु के कपड़े फटे हुए देखे। हाथ छिले हुए देखे। मालूम हो गया कि 'इस साधु को 'थीणद्धि' निद्रा का उदय है। उसका साधु वेश ले लिया गया।

चेतन, इन पाँच दृष्टांतों में हाथी के दाँत तोड़कर लानेवाले साधु का दृष्टांत, आचार्य श्री देवेन्द्रसूरिजी ने 'कर्मविपाक'

नाम के कर्मग्रंथ की टीका में भी दिया हुआ है। ये पाँचों दृष्टांत साधुओं के दिए गए हैं। उनका नाम वगैरह बताया नहीं है। परंतु इन दृष्टांतों से दो बात फलित होती हैं:

१. तीव्र लोभ और उग्र क्रोधवाली निद्रा, 'थीणद्धि' निद्रा में निमित्त बनती है।

२. थीणद्धि निद्रा के उदयवाले यदि साधु हों, तो गुरु अथवा संघ उसका साधु वेश लेकर उसको रवाना कर सकता है।

दो बातों में से पहली बात ज्यादा महत्वपूर्ण है। सोने से पूर्व मनुष्य को

क्रोध को उपशांत कर के सोना चाहिए। तीव्र लोभ की इच्छा को दूर कर के सोना चाहिए। ज्ञानी पुरुषों ने, हम साधु-साध्वी को संथारा-पौरूषी' का स्तोत्र दिया है। सोने से पूर्व उस स्तोत्र का पाठ करना पड़ता है। 'पौषध व्रत' में गृहस्थों को भी इस सूत्र का पाठ करके सोने का होता है।

'संथारा-पौरुषी' का यह सूत्र (स्तोत्र) बहुत ही अच्छा है। हाँ, यह सूत्र प्राकृत भाषा में है, इसलिए उसका अर्थ समझ लेना चाहिए। सूत्र बोलते समय उसके भावों में डूबना चाहिए। एक एक गाथा हृदयस्पर्शी है। सभी मनोविकार उपशांत हो जाते हैं। सद्विचारों की परंपरा शुरु हो जाती है। और उसी धारा में बहते हुए सो जायं तो निद्रा में 'थीणद्धि' निद्रा का उदय हो ही नहीं सकता है।

चेतन, 'थीणद्धि' निद्रा के विषय में अब स्पष्टता हो जाएगी, ऐसी मेरी श्रद्धा है। विशेष गहराई में जाना हो तो 'विशेषावश्यकभाष्य' और निशीथ सूत्र-भाष्य (गाथाः १३६ से १४०) पढ़ना पड़ेगा।

शेष कुशल,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४३

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

'थीणद्धि' निद्रा के विषय में तेरे मन में स्पष्टता हो गई, जानकर संतोष हुआ! तेरा नया प्रश्न निम्न प्रकार है-

'जीवात्माओं के शरीर के विषय में बहुत सी जिज्ञासाओं का समाधान आपने किया, अभी कुछ जिज्ञासाएँ अवशिष्ट हैं, उनका भी समाधान मैं चाहता हूँ।

१. कोई मनुष्य चलता है तो उसकी गति, उसका चलना अच्छा लगता है। अच्छी चाल के लिए 'गजगामिनी' 'हंसगति' वगैरह शब्द प्रयोग होते हैं। किसी मनुष्य का चलना अच्छा नहीं लगता है, इसका क्या कारण है?

२. किसी मनुष्य का शरीर भारी वजन का होता है, किसी मनुष्य का वजन कम होता है तो किसी मनुष्य का वजन न ज्यादा होता है, ना कम! इसका क्या कारण है?

३. कोई मनुष्य अपने ही शरीर के अवयवों से कष्ट पाता है, कोई स्वयं गिर जाता है... आत्महत्या कर लेता है... स्वयं अपने शरीर को दुःख देता है! इसका क्या कारण है?'

चेतन, तूने तीन प्रश्न किए हैं। तीनों प्रश्न के उत्तर 'कर्मसिद्धांत' के द्वारा देता हूँ। कर्म ही कारण होते हैं, तीनों प्रश्नों के।

तेरे पहले प्रश्न का कारण हैं 'विहायोगति' नाम कर्म।'

चेतन, पहली बात तो यह है कि सभी जीव चल नहीं सकते हैं। जो जीव 'स्थावर' होते हैं वे नहीं चल सकते हैं। 'त्रस-नाम-कर्म' के उदय से जीवों में चलने की शक्ति आती है और 'स्थावर-नाम-कर्म' के उदय से जीव चल नहीं सकते!

'त्रस-नाम-कर्म चलने की शक्ति देता है, परंतु चलने का तरीका देता है 'विहायोगति-नाम कर्म!' चाल (गति) दूसरों को प्रिय लगे वैसी होती है और अप्रिय लगे वैसी भी होती है।

- ऊँट चलता है, उसकी चाल अच्छी नहीं लगती, बैल चलता है, उसकी

चाल अच्छी लगती है,

- हंस चलता है, अच्छा लगता है, कौए की चाल अच्छी नहीं लगती।

- बंदर चलता है, उसकी चाल अच्छी नहीं लगती, परंतु कुत्ता चलता है, चाल अच्छी लगती है।

- कोई मनुष्य चलता है, उसकी चाल अच्छी लगती है, किसी मनुष्य की चाल अच्छी नहीं लगती है।

इस दृष्टि से विहायोगति-नाम कर्म के दो प्रकार बताए गए हैं -

- शुभ विहायोगति,

- अशुभ विहायोगति,

- शुभ विहायोगति कर्म के उदय से जीव की चाल अच्छी होती है, अशुभ विहायोगति कर्म के उदय से जीव की चाल अच्छी नहीं होती। चलनेवाले जीव चलते तो हैं, परंतु किसी का चलना दुनिया के लोगों को अच्छा लगता है, किसी का चलना अच्छा नहीं लगता-इसका कारण विहायोगति-नाम कर्म है।

चेतन, तेरा दूसरा प्रश्न है शरीर के वजन के विषय में। किसी मनुष्य का वजन ज्यादा होता है, किसी का वजन जितना होना चाहिए उससे कम होता है... किसी का जितना वजन होना चाहिए, उतना होता है। इसमें निर्णायक होता है - 'अगुरुलघु' नाम कर्म।' जिस जीव का यह कर्म उदय में होता है उसका शरीर प्रमाण युक्त वजनवाला होता है। हर जीव का अपना-अपना यह कर्म होता है।

चेतन, तेरा तीसरा प्रश्न हैः कई मनुष्य और पशु अपने ही शरीर के अवयवों से कष्ट पाते हैं, ऐसा क्यों होता है? चेतन, इसका कारण है 'उपघात' नाम कर्म।

- किसी मनुष्य की 'पड़जीभ' होती है, यानी जीभ छोटी होती है, तो बार-बार दाँतों के बीच आ जाती है, कुचलती है, दुःख होता है।

- किसी के पाँव पर 'रसोली' होती है, यानी बड़ी गांठ होती है, चलने में वह दुःख देती है।

- किसी के 'चोर दाँत' होता है, खाने में, चबाने में वह दाँत दुःख देता है।

यह 'उपघात' नाम कर्म से होता है!

वैसे, कोई बँधता है, कोई पकड़ा जाता है, कोई गिर जाता है, कोई मर जाता है (अपनी इच्छा से) यह सब उपघात-नाम कर्म की वजह से होता है। उपघात करानेवाला यह कर्म है। मनुष्य अथवा पशु की स्वयं की हरकत से जो उपघात होते हैं, वे सभी इस कर्म की वजह से होते हैं।

चेतन, तेरे तीनों प्रश्नों के समाधान 'कर्मसिद्धांत' की दृष्टि से किए हैं। इस प्रकार दूसरे भी शरीर संबंधित प्रश्नों के समाधान करना।

चेतन, मनुष्य का नाक पाँव के साथ संलग्न क्यों नहीं है? और हाथ पृष्ठभाग के साथ जुड़े हुए क्यों नहीं है? जिस जगह जो अंगोपांग होने चाहिए, उस जगह ही क्यों अंगोपांग होते हैं?

तूने शायद सोचा होगा? इसका मूल कारण है 'निर्माण' नामकर्म। किस जीव को, शरीर में किस जगह अंगोपांग होने चाहिए, यह निर्णय 'निर्माण-नामकर्म' करता है। हर जीव का अपना-अपना यह नामकर्म होता है।

अंगोपांग का सर्जन अंगोपांग नामकर्म करता है, परंतु शरीर पर किस जगह कौन सा अंग होना, कौन सा उपांग होना, यह निर्णय यह 'निर्माण नामकर्म' करता है।

चेतन, एक दूसरी बात बताता हूँ -

हर जीव के श्वासोच्छ्वास चलते रहते हैं। मैंने पहले बताया है कि 'श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति-नामकर्म' श्वासोच्छ्वास-वर्गणा के पुद्गल ग्रहण कर, श्वासोच्छ्वासरूप परिणत करता है और श्वास लेने/ एवं छोड़ने योग्य बनाता है, परंतु निश्चित समय में निश्चित संख्या में जीव जो श्वास लेता है और छोड़ता है, इस पर कौन नियंत्रण रखता है?

हाँ, किस जीव के कितने समय में कितने श्वासोच्छ्वास चलने चाहिए, उसके नियम होते हैं। शरीर की इस क्रिया पर श्वासोच्छ्वास नामकर्म का

नियंत्रण रहता है।

चेतन, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और श्वासोच्छ्वास नामकर्म के कार्यों में जो फर्क है, तेरी समझ में आ गया न? वैसे नाम समान दिखते हैं, परंतु कार्य में अंतर है। पर्याप्ति उत्पादक है, जब कि यह नामकर्म नियंत्रक है।

नामकर्म की ज्यादातर उत्तर-प्रकृतियाँ, अवांतर प्रकृतियाँ जीव के शरीर के साथ संबंधित हैं। कुछ प्रकृतियाँ मन के भावों के साथ संबंधित हैं। कुछ नामकर्म जीव के प्रभावों के साथ संबंधित हैं। ऐसे सोचा जाय तो हमारी मानसिक, शारीरिक, सामाजिक... हर बात पर कर्मों का प्रभाव है।

इन सभी कर्मों का नाश करेंगे, तभी आत्मा की मुक्ति होनेवाली है। भगवंत ने कहा है - कर्मों को जान और कर्मों को तोड़ने का पुरुषार्थ कर!

आज जो बातें लिखी हैं, उन पर चिंतन करना।

कुशल रहना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४४

प्रिय चेतन,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

तेरी जिज्ञासाएँ मेरे चिंतन को विशद बनाती है। इसलिए तू निश्चिंत बन तेरी जिज्ञासाएँ लिखते रहना। मैं मेरे क्षयोपशम के आधार पर समाधान करने का प्रयत्न करता रहूँगा।

तेरा नया प्रश्नः

'कल रात में ज्योतिष चक्र के विषय में चिंतन चला। पहला प्रश्न तो मन में यह पैदा हुआ कि सूर्य हजारों योजन दूर है, फिर भी यहाँ इतनी गरमी लगती है, तो सूर्य स्वयं कितना गरम होगा?

चन्द्र, तारा वगैरह चमकते हैं, फिर भी गरमी नहीं लगती है, उससे तो शीतलता महसूस होती है, ऐसा क्यों? मैं यह समझता हूँ कि चंद्र, तारा वगैरह चमकीले हैं, इसलिए वे उष्ण होने चाहिए!'

चेतन, सूर्यलोक का वह विमान देदीप्यमान स्फटिकमय पृथ्वीकाय का है। उस विमान को यदि स्पर्श किया जाय तो वह शीतल लगता है। परंतु जैसे-जैसे उसकी किरणें दूर जाती हैं वह गरमी पैदा करती है। स्वयं शीतल होते हुए दूर-दूर वह सूर्य गरमी देता है। यह 'आतप-नाम कर्म' का प्रभाव है। यह कर्म मात्र सूर्यविमान के पृथ्वीकाय जीवों से ही संबंध रखता है, और किसी से भी नहीं।

अग्नि उष्ण लगती है, उसकी गरमी भी लगती है, परंतु उन अग्निकाय जीवों को आतप नाम कर्म नहीं होता है। अग्नि को उष्ण-स्पर्श-नाम कर्म का उदय होता है और उग्र रक्त वर्ण नाम-कर्म का उदय होता है। इसकी वजह से उसका उष्ण प्रकाश फैलता है।

जैनागमों में सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्र और तारा के विषय में विस्तार से बताया गया है। इन सूर्य-चंद्रादि का समावेश ज्योतिष-चक्र में किया गया है। इन पाँचों में देवों का निवास बताया गया है। हमें आकाश में जो सूर्य-चन्द्र आदि दिखाई देते हैं वे सूर्य चन्द्रादि के विमान (निवास स्थान) होते हैं। सूर्य-चन्द्रादि की पृथ्वी होती है। उन विमानों में देव-देवियों के निवास होता है। सूर्य की किरणें जो पृथ्वी पर आती हैं, वे किरणें सूर्य विमान की होती हैं,

सूर्यलोक के देव-देवियों की किरणें नहीं होती हैं।

चन्द्र-तारा वगैरह के विषय में तेरी जिज्ञासा यथार्थ है। वे चमकते हैं अवश्य, परंतु जो चमके वह गरम हो, ऐसा नियम नहीं है। चन्द्र का प्रकाश शीतल होता है। 'उद्योत-नाम कर्म' की वजह से चन्द्रादि का प्रकाश शीतल होता है।

वैसे जुगनू, रत्न, हीरा, कुछ औषधि वगैरह के शरीर चमकते होते हैं, फिर भी उनकी गरमी नहीं लगती है, वह उद्योत-नामकर्म का प्रभाव होता है।

चेतन, जो लब्धिधारी मुनिवर-महात्मा होते हैं, वे विशेष प्रसंग में अपना वैक्रिय शरीर बनाते हैं, उस-और 'उत्तर वैक्रिय शरीर' जो देव बनाते हैं उस शरीर में भी प्रकाश होता है, शरीर चमकता है, वह भी 'उद्योत नाम कर्म' की वजह से होता है।

हाँ, देवों का वैसे ही वैक्रिय शरीर होता है, परंतु वे कभी शरीर को बड़ा बनाते हैं, कभी छोटा करते हैं, उस को 'उत्तर वैक्रिय' शरीर कहते हैं।

चेतन, जब ज्योतिष चक्र की बात तूने पूछी है तो उस विषय में विशेष जानकारी भी प्राप्त कर ले।

- 'समभूतला' जमीन से ऊपर ७९० योजन (एक योजन-३२०० माईल) से ६०० योजन तक ११० योजन विस्तार में ज्योतिष-देवों के विमान हैं।

७९० योजन दूर तारा के विमान,

७९० से १० योजन ऊपर सूर्य,

८०० से ८० योजन ऊपर चन्द्र,

८८० से ४ योजन ऊपर नक्षत्र,

८८४ से ४ योजन ऊपर बुध का ग्रह

८८८ से ३ योजन ऊपर शुक्र का ग्रह

८९१ से ३ योजन ऊपर गुरु का ग्रह

८९४ से ३ योजन ऊपर मंगल का ग्रह

८९७ से ३ योजन ऊपर शनि का ग्रह

- नक्षत्रों में सब से नीचे भरणी नक्षत्र चलता है, सब से ऊपर स्वाति नक्षत्र चलता है।

- ज्योतिष चक्र की दक्षिण दिशा में मूल नक्षत्र चलता है, और सब से उत्तर में अभिजित नक्षत्र चलता है।

- मनुष्य क्षेत्र में मेरूपर्वत से ११२१ योजन दूर और अलोक से लोक में ११११ योजन भीतर, ज्योतिष के विमान अनुक्रम से चलते हैं। कुछ विमान स्थिर रहते हैं। यानी अलोक से ११११ योजन लोक के भीतर जो विमान ज्योतिष चक्र के होते हैं, वे स्थिर होते हैं, कभी नहीं चलते हैं।

- चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारों की गति अनुक्रम से शीघ्र होती है, परंतु समृद्धि क्रमशः कम होती है।

- चन्द्र के विमान को वहन करनेवाले देव १६००० होते हैं,

- सूर्य का विमान वहन करनेवाले देव भी १६००० होते हैं।

- ग्रह के विमान वहन करनेवाले देव ८००० होते हैं।

- नक्षत्र के विमान वहन करनेवाले देव ४००० होते हैं।

- तारा के विमान वहन करनेवाले देव २००० होते हैं।

जो देव इन विमानों को वहन करते हैं वे देव

- पूर्व दिशा में सिंह का रूप लेकर वहन करते हैं,

- दक्षिण दिशा में हाथी का रूप लेकर वहन करते हैं,

- पश्चिम दिशा में बैल का रूप लेकर वहन करते हैं,

- उत्तर दिशा में अश्व का रूप लेकर वहन करते हैं।

- ज्योतिष चक्र के जो विमान 'लवण समुद्र' में हैं वे विमान उदकस्फटिक रत्न के होते हैं। जंबू द्वीप और घातकी खंड की वेदिका से ९५ हजार योजन तक 'गोतीर्थ आया हुआ है। भूमि के अत्यंत उतार भागवाले प्रदेश को 'गोतीर्थ' कहा गया है। उन दोनों के बीच लवण समुद्र की शिखा १० हजार योजन चौड़ी और १६ हजार योजन ऊँची है। उस पानी की शिखा में ९०० योजन तक ज्योतिष विमान चलते हैं। परंतु उदक स्फटिक रत्नों के

प्रभाव से पानी फट जाता है, इसलिए विमानों में पानी भर जाता नहीं है और विमानों के तेज में न्यूनता आती नहीं है।

- 'राहु' के दो प्रकार हैंः १. ध्रुव राहु २. पर्व राहु.

ध्रुव राहु का विमान अति श्याम होता है। वह चन्द्र के विमान की नीचे चार अंगुल दूर चलता है। इस की वजह से चन्द्र में वृद्धि हानि का भास होता है।

- राहु का विमान छोटा होता है, चन्द्र का विमान बड़ा होता है, फिर भी राहु का विमान अति श्याम होने से उसकी कान्ति विस्तृत होती है, उसी कारण चन्द्र ढंक जाता है। तब चन्द्रग्रहण होता है। कम से कम छह महीने में और ज्यादा से ज्यादा ४२ महीने में चन्द्रग्रहण होता है। सूर्यग्रहण भी कम से कम छह महीने से और ज्यादा से ज्यादा ४८ महीने से होता है।

शेष कुशल।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४५

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

ज्योतिष-देवलोक के विषय में जो बातें मैंने लिखी हैं, वे तो बहुत कम हैं और संक्षिप्त हैं। 'बृहत्संग्रहणी' नाम के ग्रंथ में विस्तार से पढ़ने को मिल सकेंगी।

तेरा नया प्रश्नः

'मैंने कुछ ऐसे मनुष्य देखे हैं, जिनको देखते ही मैं प्रभावित हो गया। उनको मैं जानता भी नहीं था। वैसे एक मिल-मालिक को देखे थे, करोड़ों रुपये थे उनके पास, परंतु उनका व्यक्तित्व प्रभावक नहीं था, सामान्य मनुष्य जैसा ही था। कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि उनकी बात तूर्त ही माननी पड़ती हैं और कोई व्यक्ति अनेक बार कहें, फिर भी उसकी बात दूसरे नहीं मानते! इसका क्या कारण? वर्तमान जीवन के साथ जुड़ी हुई यह बात है।'

चेतन, इसका कारण होता हैं मनुष्य का अपना-अपना 'पराघात' नामकर्म। जिस का परघात नामकर्म प्रबल होता है, उसको देखते ही लोग प्रभावित होते हैं और उसकी बात मान लेते हैं। जिस का यह कर्म निर्बल होता है, उसकी बात सच्ची और अच्छी होने पर भी लोग नहीं मानते। कुछ उदाहरणों से यह बात मैं तुझे समझाता हूँ।

- एक हाईस्कूल में एक शिक्षक ऐसे थे, वे जिस क्लास में जाते, उस क्लास के लड़के शांत हो जाते। किसी प्रकार की शरारत नहीं होती... किसी प्रकार की आवाज नहीं होती। जब कि दूसरे शिक्षक जब क्लास में जाते लड़के मस्ती करते, शिक्षकों की बातें नहीं सुनते, दूसरों का उपहास करते। उस शिक्षक का पराघात कर्म प्रबल था, हाईस्कूल विद्यालय के आचार्य भी उनकी बात शांति से सुनते और शिक्षक जो कहते, वह मानते!

- एक कथाकार थे, कुछ ही बरस हुए उनकी मृत्यु हुई। उनकी वाणी इतनी प्रभावशाली थी कि उनके एक प्रवचन में लाखों रुपये लोग दान में दे देते थे! वैसे अच्छे कार्यों के लिए उन्होंने चार/पाँच करोड़ रुपये इकट्ठे करवाए होंगे। स्वयं इतने निःस्पृही थे कि उस दान में से एक रुपया भी नहीं लेते थे। उन का 'पराघात' नामकर्म प्रबल था।

बंबई में एक बड़े व्यापारी थे। धर्मस्थानों में वे ट्रस्टी थे। उनका स्वभाव अच्छा नहीं था। दूसरों का बात-बात में अपमान कर देते थे। बाजार में भी बड़ी सख्ताई से पेश आते थे। उनके पीछे लोग उनकी कटु आलोचना करते थे। परंतु उन का 'पराघात' नामकर्म प्रबल था। जिस व्यक्ति से दूसरा कोई कार्यकर्ता ५०० रुपयों का दान भी नहीं प्राप्त कर सकते थे, उस व्यक्ति से यह महानुभाव पाँच हजार का दान ले आते थे। याचना नहीं करते थे। आज्ञा करते थे - 'इस कार्य में तुम्हें ५ हजार रुपये देने हैं!' और सामनेवाला मना नहीं कर सकता था। तूर्त ही पाँच हजार रुपये दे देता था! उनके जाने के बाद... फिर चाहे वह दाता कटु आलोचना भी करता था।

जो धर्माचार्य किसी की नहीं सुनते थे, वे धर्माचार्य उन महानुभाव की बात शांति से सुनते थे, और वे जो कहे, धर्माचार्य को भी मानना पड़ता था।

उनके घर में भी उनकी बात कोई टाल सकता नहीं था। उनका प्रभाव और तेज उतना प्रबल था, कि उनके घर में रहते हुए कोई भी व्यक्ति ऊँची आवाज में बोल नहीं सकता था। बातें भी परस्पर धीमी आवाज में करते थे।

- एक व्यापारी पेढ़ी में मुनीम थे। पेढ़ी के मालिक सेठ भी उनसे प्रभावित थे। जो मुनीम कहे वह अंतिम बात रहती थी। बाजार के व्यापारी मुनीम को सेठ कहते थे। व्यापारी उनको मान देते थे। उनके साथ कोई भी व्यक्ति नौकर के रूप में व्यवहार नहीं करते थे। मुनीम का पराघात नामकर्म प्रबल था।

चेतन, जो सत्पुरुष होते हैं, चरित्रवंत पुरुष होते हैं, यदि उनको यह पराघात नामकर्म होता है तो समाज को और देश को अच्छा लाभ होता है। धर्माचार्यों में यदि यह कर्म प्रबल होता है तो वे धर्म का अच्छा प्रचार-प्रसार कर सकते हैं। संघ-समाज उनकी बात टाल नहीं सकता हैं। वे जो कहें वह

करने को तत्पर रहता है।

परंतु ऐसा कोई नियम नहीं है कि सत्पुरुषों को ही 'पराघात' कर्म उदय में आए! दुष्ट, दुराचारी और अधम लोगों को भी यह पराघात नाम कर्म का उदय हो सकता है। ऐसे लोग समाज का, नगर का, और देश का अहित करते हैं। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए यह 'पराघात' कर्म उनका मार्ग सरल बना देता है। देश के सर्वोच्च नेता से भी ऐसे लोग अपना कार्य करवा लेते हैं। बुरे काम करने पर भी उनको कोई रोकता नहीं है! कुछ जानते हैं कि 'यह काम अच्छा नहीं है...' फिर

भी उसका विरोध नहीं कर सकते हैं। लोग उनसे उतने प्रभावित होते हैं कि बुरे काम को भी 'आपने अच्छा काम किया!' बोल देते हैं।

पराघात नामकर्म का उदय होने पर, उसकी गलत बात को भी लोग सही बात मान लेते हैं! 'पराघात' कर्म पर मनुष्य की सफलता का आधार है। इस नामकर्म के उदयवाला मनुष्य सफलता के शिखर पर पहुँच सकता है! परंतु पता नहीं लगता कि कब इस कर्म का उदयकाल समाप्त हो जाय। उदयकाल में उसकी सभा में हजारों-लाखों लोग, उसकी एक बात पर हाथ ऊँचा कर सहमति व्यक्त करते हैं, उदयकाल समाप्त होने पर... उसकी सभा में मुश्किल से १००/२०० लोग आते हैं और वे भी उसकी बात मानने को तैयार नहीं होते!

चेतन, घर के मुख्य व्यक्ति में यदि 'पराघात' कर्म का उदय होता है तो घर में शिस्त और शांति रहती है।

समाज का नेता यदि इस कर्म का उदयवाला होता है, तो समाज में शांति रहती है और यदि नेता धार्मिक होता हैं, सदाचारी और सही रास्ते पर चलनेवाला होता है तो समाज को ऊँचा उठाता है, सही दिशा में समाज को ले जाता है।

दुनिया में जितने भी 'सरमुखत्यार' (डिक्टेटर) हुए, उन सब का 'पराघात नामकर्म' प्रमुख था। तभी वे देश को अपनी बात मनवा सकते थे, मनमानी करवा सकते थे।

तीर्थंकरों की आत्मा में, चक्रवर्ती वगैरह उत्तम पुरुषों की आत्मा में यह

'पराघात नामकर्म' उत्कृष्ट कोटि का होता है। तभी वे पूरे विश्व को अपनी बात समझाने में कामियाब रहते थे।

चेतन, अपनी बात दूसरों से मनवाने के लिए यह 'पराघात' नामकर्म का अपने में उदय होना चाहिए। यदि अपना पराघात नामकर्म प्रबल होता है तो दूसरे लोग-घर के या बाहर के, अपनी बात मान ही लेंगे। अपना प्रभाव दूसरों पर पड़ेगा ही।

इसलिए 'पराघात नामकर्म' बँधता रहे, वैसी सत्प्रवृत्ति करते रहना है। संसार-व्यवहार में यह कर्म बहुत ही उपयोगी है। दूसरों को धर्ममार्ग पर चलाए जा सकते हैं और गलत रास्ते पर भी चलाए जा सकते हैं।

'पराघात-नामकर्म' के विषय में इतनी जानकारी पर्याप्त होगी!

कुशल रहना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४६

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

पराघात-नामकर्म के विषय में तुझे स्पष्ट बोध मिला, जानकर मुझे संतोष हुआ। नामकर्म की अवांतर प्रकृतियों का अध्ययन करने से बहुत सी गहन-गंभीर बातें स्पष्ट होती जाएँगी।

तेरा नया प्रश्नः

'इस समय भारत में अथवा वर्तमान दुनिया के देशों में कहीं भी 'तीर्थंकर' नहीं है, परंतु सुना है कि 'महाविदेह' नाम का क्षेत्र है, वहाँ वर्तमान समय में तीर्थंकर हैं, तो कौन आत्मा तीर्थंकर बन सकती है? क्या तीर्थंकरत्व भी कर्म का प्रदान है?'

चेतन, आत्मा को तीर्थंकर बनानेवाली दो बातें हैंः

१. वीश स्थानक तप की आराधना, और

२. तीर्थंकर नामकर्म का उदय,

२० स्थानक तप की आराधना करने से तीर्थंकर नामकर्म बँध सकता है। संपूर्ण २० स्थानक का तप नहीं करें, १/२ पदों की भी सर्वांग सुंदर आराधना करने से तीर्थंकर नामकर्म बँध सकता है। परंतु तप करने वाले जीव के हृदय में संसार के सभी जीवों के प्रति भाव करुणा होनी चाहिए। 'मेरा चले तो मैं सभी जीवों को दुःखों से मुक्त करूँ और मुक्ति दिला दूँ।' ऐसा भाव होना चाहिए।

चेतन, २० स्थानक के नाम बता दूँ पहले -

१. अरिहंत

२. सिद्ध

३. प्रवचन

४. आचार्य

५. स्थविर

६. उपाध्याय

७. साधु

८. ज्ञान

९. दर्शन

१०. विनय

११. चारित्र

१२. ब्रह्मचर्य

१३. क्रिया

१४. तप

१५. गौतम

१६. जिन

१७. संयम

१८. अभिनव ज्ञान

१९. श्रुत

२०. तीर्थ

- एक-एक पद के २० अट्ठम, अथवा २० छट्ठ अथवा २० उपवास करने के होते हैं। छ महिने की समय मर्यादा में एक ओली पूर्ण होनी चाहिए।

- इस २० स्थानक तप की आराधना में निम्न बातों का पालन करना आवश्यक है -

- पौषध - ब्रह्मचर्य का पालन

- तपश्चर्या - असत्य का त्याग

- प्रतिक्रमण - उस-उस पद की प्रशंसा

- प्रतिलेखना - जिन पूजा

- भूमिशयन - कायोत्सर्ग

- खमासमणा - नवकारवाली (उस-उस पद की)

- देववंदन - उद्यापन

चेतन, गुरुजनों के मार्गदर्शन में यह तपश्चर्या करनी चाहिए। हृदय में परहित-परोपकार की भावना की वृद्धि करनी चाहिए। यह महत्त्व की बात है।

यह तीर्थंकर नामकर्म, तीर्थंकर बनने से पूर्व के तीसरे भव में बँधता है। जैसे भगवान महावीर स्वामी २७ वे भव में तीर्थंकर बने थे, तो उन्होंने २५ वे भव में (नन्दन नाम के राजकुमार के भव में) तीर्थंकर नामकर्म बाँधा था।

जब तीर्थंकर नामकर्म ('जिननाम' भी कहते हैं) का उदय होता है तब वह आत्मा सर्वज्ञ-वीतराग तो बनती है, विशेष में वह आत्मा त्रिभुवन-पूज्य बनती है। १२ विशिष्ट गुणों का आविर्भाव होता है -

१. ज्ञान-अतिशय (सर्वज्ञता)

२. वचन-अतिशय (उनका उपदेश सभी जीव समझते हैं)

३. पूजा-अतिशय (इन्द्र भी उन की चरण सेवा करते हैं)

४. अपायापगम - अतिशय (जहाँ-जहाँ वे जाते हैं, लोगों के रोग दूर होते हैं)

- ज्ञानातिशय से तीर्थंकर, उनके पास आनेवाले जीवों की समस्याओं का

समाधान करते हैं। परलोक की भी बातें बता देते हैं।

- वचनातिशय से, उनके समवसरण में जानेवाले जीव, अपनी-अपनी भाषा में तीर्थंकर का उपदेश समझ लेते हैं।

- पूजातिशय से लोग तीर्थंकर से अति प्रभावित होते हैं,

- अपायापगम-अतिशय से तीर्थंकर की महिमा सर्वत्र फैलती है। सामान्य जनता के लिए यह बहुत बड़ी बात होती है। उनके अस्तित्व मात्र से लोगों के रोग मिट जाते हैं! इस प्रकार रोग मिटानेवाले को दुनिया 'भगवान' मानती ही है। जिनके चरणों की सेवा देव-देवेन्द्र करते हैं, उनको दुनिया देवाधिदेव मानती है।

चेतन, तीर्थंकर नामकर्म के उदय से तीर्थंकर को 'अष्ट प्रातिहार्य' की शोभा प्राप्त होती है।

तीर्थंकर धर्म का उपदेश देवकृत समवसरण में बैठ कर देते हैं। समवसरण में आठ प्रकार की शोभा होती है -

- अशोकवृक्ष की छाया, - तीन छत्र

- सिंहासन - भा-मंडल

- चँवर - देव-दुंदुभि

- दिव्यध्वनि - पुष्पवृष्टि

- समवसरण की अद्‌भुत शोभा होती है। तीर्थंकर के प्रति आकृष्ट होकर पशु भी समवसरण में आते हैं। तीर्थंकर का उपदेश सुनते हैं और समझते हैं।

- समवसरण में जीवों का परस्पर वैरभाव नहीं रहता है। शेर के पास बकरी बैठ सकती है। बिल्ली के पास चूहा बैठ सकता है। तीर्थंकर के सान्निध्य में सभी जीव 'अभय' महसूस करते हैं।

- तीर्थंकर का तप और तेज, देवों से भी ज्यादा होता है। देवियाँ भी देवलोक के दिव्य भोग-सुख छोड़कर, तीर्थंकर के समवसरण में आती हैं और अपलक तीर्थंकर को निहारती हैं। वासनारहित निर्मल प्रेम उनके हृदय में उल्लसित होता है।

- तीर्थंकर जब मार्ग पर से गुजरते हैं तब देवेन्द्र जमीन पर नौ स्वर्णकमलों को स्थापित करते हैं, उन पर पैर रखकर तीर्थंकर चलते हैं। मार्ग पर रहे हुए वृक्ष झुक जाते हैं, तीर्थंकर को प्रणाम करते हैं।

- तीर्थंकर जब आहार करते हैं, दूसरे लोग उनकी आहार क्रिया नहीं देख सकते।

- तीर्थंकर नग्न होते हैं, परंतु दूसरे लोग उन की नग्नता नहीं देख सकते।

- उनके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक राजा, अनेक राणियाँ, राजकुमार, श्रेष्ठि... वगैरह विरक्त बनकर दीक्षा ले लेते हैं।

- तीर्थंकर स्वयं पूर्णता पाते हैं, दूसरे शरणागतों को पूर्णता दिलाते हैं! ऐसे तीर्थंकरों की भक्ति करने से हम भी तीर्थंकर नामकर्म बाँध सकते हैं।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४७

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

'तीर्थंकर-नामकर्म' के विषय में तुझे बहुत आनंद आया और तूने उस पत्र को चार बार पढ़ा, जानकर मुझे बहुत संतोष हुआ।

तेरा नया प्रश्नः

'कल रात्रि के समय 'कर्मबंध' के विषय में चिंतन चला। एक बात पर चिंतन रुक गया। जीव कर्म बाँधता है शुभ अथवा अशुभ। वह कर्म तत्काल उदय में आता नहीं दिखता है। बँधा हुआ कर्म कब उदय में आता है, और जब तक उदय में आता है, तब तक उस कर्म का क्या होता है?'

चेतन, जिस प्रकार आम का खेत में बोने के बाद, तूर्त आम्रवृक्ष उगता नहीं है और तूर्त उस वृक्ष पर आम्रफल लगता नहीं है। समय लगता ही है, ठीक वैसे कर्म बँधने के बाद कुछ समय वह सुषुप्त दशा में रहता है। वह कर्म फलोन्मुख नहीं होता है। वह निष्क्रिय स्थिति में रहता है। इस कर्म की निष्क्रिय स्थिति को 'अबाधा-काल' कहते हैं। 'अनुदय काल' भी कह सकते हैं। यह अबाधा-काल कम से कम एक 'आवलिका' समय तक वैसे ही निष्क्रिय पड़ा रहता है।

चेतन, एक आवलिका में असंख्य 'समय' का समावेश होता है। ४८ मिनिट में करीबन एक करोड़ सड़सठ लाख आवलिकाओं का समावेश होता है।

अबाधा-काल समाप्त होने पर, कर्म उदय में आता है। उदय की प्रथम आवलिका को 'उदयावलिका' कहते हैं। उस प्रथम उदयावलिका में कर्म का कार्यक्रम निश्चित होता है। उसके बाद दूसरी आवलिका... तीसरी आवलिका... वैसे असंख्य आवलिकायें पसार होती जाती है। इस संपूर्ण उदय-काल को शास्त्रीय भाषा में 'निषेककाल' कहते हैं। निषेककाल की पहली उदयावलिका में, बँधे हुए कर्म का हल्ला आता है! समय के गुजरते हुए वह तीव्र हल्ला मंद होता है।

कर्म बँधने के बाद उस का 'अबाधा काल' शुरू होता है। वह समय पूर्ण

होने पर वह कर्म उदय में आता है, यह सर्व साधारण नियम है। परंतु उस कर्म को जल्दी उदय में लाना हो, तो ला सकते हैं! निश्चित काल के पूर्व कर्म को उदय में लाने की क्रिया को 'उदीरणा' कहते हैं, 'विपाक-उदीरणा' भी बोलते हैं।'

'विपाक-उदीरणा' करने के लिए कर्म की स्थिति को कम करनी पड़ती है। यह स्थिति कम करने का कार्य 'अपवर्तना-करण' से होता है।

चेतन, 'अपवर्तना-करण' संक्षेप में समझाता हूँ।

समझ ले कि एक मनुष्य ने अशुभ-पाप क्रिया की, हिंसा की, चोरी की वगैरह। उससे अशुभ कर्म बँध गया। परंतु उसके बाद जीव शुभ-पवित्र कार्य करता है तो अशुभ कर्म की स्थिति और रस कम करता है, घटाता है। इस क्रिया को 'अपवर्तना' कहते हैं। यह अपवर्तना करण, कर्मों की स्थिति को व रस को घटाने का काम करता है।

इससे विपरीत, जीव पहले शुभ-पुण्यकार्य करता है। उससे शुभ कर्म बँधता है। कर्मबंध होता है उस में स्थिति बँधती है, रस बँधता है, प्रकृति बँधती है और प्रदेश बँधते हैं। चार बातें बँधती हैं। शुभ प्रवृत्ति के बाद जीव अशुभ प्रवृत्ति करता है, पाप-प्रवृत्ति करता है, तो शुभकर्म के रस को एवं स्थिति को कम करता है।

चेतन, परंतु यदि पाप कर्म बाँधने के बाद, मनुष्य ज्यादा पाप कर्म करता हैं तो पाप-कर्म की स्थिति और रस बढ़ जाता है! इसको 'उद्वर्तना-करण' कहते हैं। ये दो करण-अपवर्तना और उद्वर्तना महत्त्वपूर्ण हैं!

यदि तूने एक शुभ कर्म बाँधा। शुभ कर्म में स्थिति और रस भी बँध गया। अब तू उस शुभ कर्म की, शुभ क्रिया की प्रशंसा-अनुमोदना करता है, तेरे मनोभाव ज्यादा शुभ होते हैं... तो शुभ कर्म की स्थिति बढ़ जाती है, रस बढ़ जाता है। जब वह कर्म उदय में आएगा, तीव्र शुभ फल देगा।

- पाप-कर्म की अपवर्तना करते रहो,

- शुभ कर्म की उद्वर्तना करते रहो!

चेतन, जिस प्रकार विपाक-उदीरणा करने के लिए अपवर्तना करण से

कर्मों की स्थिति एवं रस घटना पड़ता है, वैसे 'संक्रमकरण' के द्वारा कर्मों के स्वभाव में परिवर्तन किया जा सकता है। एक कर्म को दूसरे सजातीय कर्म रूप में बदल सकते हैं।

हाँ, कर्म की मूल प्रकृति, अन्य मूल प्रकृति रूप नहीं बदल सकते। परंतु कर्मों की उत्तर (अवांतर) प्रकृतियों का संक्रम हो सकता है। हाँ, आयुष्य कर्म का संक्रम-परिवर्तन नहीं हो सकता है। आयुष्यकर्म के चारों प्रकार का संक्रमण नहीं होता हैं। परंतु अशातावेदनीय कर्म का शातावेदनीय में, शातावेदनीय का अशातावेदनीय में परिवर्तन-संक्रम हो सकता है।

संक्रम में कर्म की प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश-चारों बातों का परिवर्तन होता है। अपवर्तना एवं उद्वर्तना में मात्र स्थिति और रस का ही परिवर्तन होता हैं।

चेतन, जैन दर्शन में आठ प्रकार के करण बताये गए हैं।

१. बंधन करण. ५. उदीरणा करण.

२. संक्रम करण, ६. उपशमना करण.

३. उद्वर्तना करण, ७. निधत्ति करण.

४. अपवर्तना करण. ८. निकाचना करण.

- जीव ने जो कर्म बाँधा, उस कर्म को उदय में नहीं आने देना, उस को 'उपशमना करण' कहते हैं। विपाकोदय नहीं, प्रदेशोदय भी नहीं। बँधा हुआ कर्म, वैसा ही निष्क्रिय पड़ा रहता है।

- जीव ने जो कर्म बाँधा हो, उस कर्म के ऊपर मात्र अपवर्तना और उद्वर्तनाकरण ही काम कर सकते हैं, उस में

संक्रम... उदीरणा वगैरह दूसरे करण काम नहीं कर सकते हैं। इस करण को 'निधत्ति' कहते हैं।

- जीव ने जो कर्म बाँधा हो, जिस पर कोई करण काम नहीं कर सकता है, उस कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। इसको 'निकाचना' कहते हैं।

चेतन, आठ करणों का संक्षेप में परिचय दिया है। इसका विस्तार 'कर्मप्रकृति' ग्रंथ में एवं 'पँच संग्रह' नाम के ग्रंथ मे पाया जाता हैं। इन ग्रंथों

का अध्ययन करना आवश्यक है।

चेतन, 'योगदर्शन' में कर्माशय का मूल कारण 'क्लेश' बताया है। यह 'क्लेश' जैन दर्शन का 'भाव-कर्म' है। योगदर्शन में 'क्लेश' की चार अवस्था बताई गई हैं -

१. प्रसुप्त २. तनु. ३. विच्छिन्न और ४. उदार।

जैन दर्शन ने कर्मों का जो 'अबाधाकाल' बताया हैं वह योगदर्शन की 'प्रसुप्त' अवस्था है। कर्म का उपशम अथवा क्षयोपशम, योगदर्शन की 'तनु' अवस्था है। कर्मोदय का कारणवश रुकना, योगदर्शन की 'विच्छिन्न' अवस्था है और कर्मों का उदय, योगदर्शन की 'उदार' अवस्था है।

चेतन, प्रासंगिक ये बातें लिख दी हैं, तेरे चिंतन-मनन में काम आएगी!

कुशल रहना,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४८

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

आठ करणों के विषय में मैं प्रत्यक्ष ही विशेष रूप से समझाऊँगा। आठ करणों के विषय में अच्छा अध्ययन होना आवश्यक है। इस विषय में तेरी जिज्ञासा है, इसलिए तुझे समय मिलने पर यह विषय समझाऊँगा।

तेरा नया प्रश्नः

'ईश्वर को कर्ता अथवा प्रेरक माननेवाले, कर्मवाद पर निम्न प्रकार तीन आक्षेप करते हैंः

१. मकान, मोटर, घड़ी, पेन आदि छोटी-बड़ी वस्तु किसी मनुष्य के द्वारा ही निर्मित होती हैं, तो फिर संपूर्ण जगत, जो कार्य रूप दिखाई देता हैं, उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिए।

२. सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर कोई बुरे कर्म का फल नहीं चाहता है और कर्म स्वयं जड़ होने से किसी चेतन की प्रेरणा के बिना फल देने में समर्थ नहीं है। इसलिए कर्मवादियों को मानना चाहिए कि ईश्वर ही प्राणियों को कर्मफल देता है।

३. ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए कि जो सदा से मुक्त हो और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी उस ईश्वर में कुछ विशेषता हो। इसलिए कर्मवाद का यह मानना ठीक नहीं कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त यानी ईश्वर हो जाते हैं।'

चेतन, कर्मवाद के सामने ईश्वरवादियों का ये तीन आक्षेप हैं। मैं एक-एक आक्षेप का समाधान करता हूँ।

१. पहली बात तो यह है कि यह जगत बना ही नहीं है! सदाकाल से ही है। यह जगत किसी समय नया नहीं बना। हाँ, इस में परिवर्तन हुआ करता है। कोई परिवर्तन मनुष्य अथवा देवकृत होता है, कोई परिवर्तन स्वयं होते हैं। किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती है। वे परिवर्तन उष्णता, वेग, क्रिया आदि शक्तियों से बनते रहते हैं।

जैसे, मिट्टी, पत्थर आदि वस्तुओं का इकट्ठा होने पर छोटे-बड़े पहाड़ बन जाते हैं। इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से नदी बन जाती है। भाप पानी बनकर बरसता है और फिर पानी भाप बन जाती है।

इसलिए ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानना आवश्यक नहीं है। फिर भी मानोगे तो प्रश्न है - ईश्वर को किसने बनाया? ईश्वर को अनादि कहोगे न? तो फिर सृष्टि को ही अनादि मानना चाहिए।

अब दूसरे आक्षेप का समाधान करता हूँ।

प्राणी जैसा कर्म करते हैं वैसा फल उनको कर्म द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ है और प्राणी अपने किए बुरे कर्म का

फल नहीं चाहता, यह बात ठीक है, पर यह बात भी समझना है कि जीव के संग से कर्म में भी शक्ति पैदा हो जाती है, जिससे वह अपने अच्छे बुरे विपाकों को नियत समय पर जीव में प्रगट करता है। कर्मवाद यह नहीं मानता है कि चैतन्य के संबंध के बिना ही जड़ कर्म अपना प्रभाव दिखाता है। वह इतना ही कहता है कि फल देने के लिए ईश्वर रूप चैतन्य की प्रेरणा मानने की कोई ज़रूरत नहीं है। क्यों कि सभी जीव चेतन हैं! वे जैसा कर्म करते हैं, उसके अनुसार फल मिल जाता है, वह फल चाहता हो या नहीं चाहता हो! कर्म करना एक बात है, फल को चाहना-नहीं चाहना दूसरी बात है। नहीं चाहने से, किए हुए कर्मों का फल मिलने से रुक नहीं सकता है। सामग्री इकट्ठी हो जाने पर, कार्य आप ही आप होने लगता है।'

एक दृष्टांत से यह बात समझाता हूँ चेतन!

एक मनुष्य धूप में खड़ा है। वैशाख महीना है। गर्म वस्तु खाता है और चाहता है कि प्यास नहीं लगे! क्या किसी तरह प्यास रुक सकती है? कर्मवादी कहते हैं कि कर्म करते समय परिणामानुसार जीव में ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं कि जिन से प्रेरित होकर जीव कर्मफल को आप ही भोगते हैं और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रगट करते हैं।

चेतन, अब तीसरे आक्षेप का समाधान देता हूँ।

ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन, फिर उनमें अंतर ही क्या है? हाँ, अन्तर है तो इतना ही है कि जीव की सभी शक्तियाँ आवरणों से घिरी हुई हैं, ईश्वर की नहीं। पर जिस समय जीव अपने सभी आवरणों को मिटा देता हैं, उस समय उसकी सभी शक्तियाँ पूर्ण रूप में प्रकाशित हो जाती हैं। फिर जीव और शिव में विषमता किस बात की? विषमता का कारण औपाधिक

कर्म हैं। उन कर्मों का नाश होने पर भी विषमता बनी रहती है तो फिर मुक्ति का क्या प्रयोजन? विषमता संसार तक ही परिमित है, आगे नहीं। इसलिए कर्मवाद के अनुसार यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं।

'ईश्वर एक ही है' - ऐसा बोलना उचित नहीं है। सभी आत्मा तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर ही हैं। मात्र कर्मबंधनों की वजह से वे छोटे-बड़े देखे जाते हैं।

तीनों आक्षेप के समाधान लिखे हैं। तू सोचना। तेरे मन का समाधान हो जाएगा। दूसरों का समाधान भी तू कर पाएगा।

कर्मवाद को नहीं माननेवालों के जीवन में जब विशेष प्रमाण में शारीरिक, मानसिक अथवा आर्थिक विघ्न आते हैं तो वे लोग चंचल हो जाते हैं, घबड़ाकर दूसरों को दूषित ठहराते हैं और उनको कोसते हैं। इस तरह विपत्ति के समय, एक तरफ बाहरी दुश्मन बढ़ जाते हैं और दूसरी तरफ बुद्धि अस्थिर बन जाती है। बुद्धि अस्थिर बन जाने से मनुष्य को अपनी भूल महसूस नहीं होती है। व्यग्रता के कारण मनुष्य दिशाशून्य बन, भटक जाता है।

इसलिए उस विपत्ति के समय मनुष्य को कोई एक सही सिद्धांत का सहारा चाहिए। जिससे उनकी बुद्धि स्थिर हो। स्थिर बुद्धि से वह सोच सकता है कि उपस्थित विघ्न का मूल कारण क्या है? जहाँ तक बुद्धिमानों ने विचार किया है, यही पता चला है कि ऐसा सिद्धांत 'कर्मवाद' ही है। कर्मवादी मनुष्य को विश्वास होना चाहिए कि 'चाहे मैं जान सकूँ या नहीं, लेकिन मेरी आपत्तियों का भीतरी और असली कारण मुझ में ही है।'

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिए परिपूर्ण हार्दिक शांति प्राप्त करनी चाहिए। वैसी शांति कर्मसिद्धांत से ही प्राप्त हो सकती है। आँधी और तूफान में जैसे हिमालय का शिखर स्थिर रहता है वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओं के समय शांत भाव से स्थिर रहना, मनुष्य के लिए आवश्यक है। ऐसी स्थिरता कर्मसिद्धांत पर विश्वास करने से प्राप्त होती है।

'कर्मसिद्धांत' की श्रेष्ठता के संबंध में डॉ. मेक्समूलर के विचार को

प्रस्तुत कर पत्र समाप्त करता हूँ:

'यह तो निश्चित है कि कर्ममत का असर मनुष्य जीवन पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पड़े कि वर्तमान अपराध के सिवाय भी मुझे जो कुछ भोगना पड़ता है, वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है, तो वह मनुष्य पुराने कर्ज को चुकानेवाले मनुष्य की तरह शांत भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज़ चुकाया जा सकता है, तो भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा स्वयं ही जागृत होगी।'

चेतन, इस पत्र को पुनः पुनः पढ़ना। कर्मवाद के विषय में तेरी श्रद्धा ज्ञानमूलक बनेगी। शेष कुशल।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ४९

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

जीवन की हर समस्या का समाधान 'कर्मवाद' के माध्यम से हो सकता है। इस दृष्टि से मैं तुझे यह पत्र-माला लिख रहा हूँ। परंतु तुझे एक-एक पत्र के ऊपर शांतचित्त से, एकाग्रता से चिंतन करना होगा। हालाँकि तेरे प्रश्नों के समाधान पाने के लिए तू मननपूर्वक ही पढ़ता है। फिर भी विशेष रूप से पढ़ने के लिए प्रयत्न करना।

तेरा नया प्रश्न निम्न प्रकार है -

'कर्मयुक्त सिद्ध आत्मा सिद्धशिला पर स्थिर होती है, संसार में जीव जो गति करते हैं वह आत्मा स्वयं की शक्ति से गति करती है क्या? 'धर्मास्तिकाय तो गति में जीव को सहाय करता है, गति तो जीव स्वयं करता है न?'

चेतन, संसार में हर जीव कर्मबंधनों से बँधा हुआ है। जो जीव गति कर सकते हैं, उस गति को मर्यादित करनेवाला और जीव अपनी इच्छा के अनुसार चलने की क्षमता प्राप्त करता है, उस में प्रेरक 'कर्म' है। वह 'नाम कर्म' है। नाम कर्म की एक प्रकृति त्रस-नामकर्म है।

शीत, धूप, आग... इत्यादि कारणों से जीव एक जगह से दूसरी जगह जा सकता है, गति कर सकता है, यह 'त्रसनाम-कर्म' का कार्य है। सहायक तत्त्व होता है 'धर्मास्तिकाय' नाम का अरूपी पदार्थ।

संसार में सभी जीव गति-स्थानान्तर नहीं कर सकते हैं। मात्र बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय और पंचेंद्रिय जीव ही गति कर सकते हैं। एकेंद्रिय जीव स्वेच्छा से गमनागमन नहीं कर सकते हैं।

बेइंद्रिय जीवों को 'त्रस-नामकर्म' का उदय होता है। इसकी वजह से वे

इच्छानुसार गमनागमन कर सकते हैं। एकेंद्रिय जीवों को इस त्रसनामकर्म का उदय नहीं होता है इसलिए वे स्वेच्छा से गमनागमन नहीं कर सकते हैं।

वैसे आत्मा की शक्ति समग्र लोकाकाश में गति-अगति करने की है - परंतु यह 'त्रस-नाम कर्म' उस शक्ति पर नियमन करता है। शक्ति को मर्यादित करता है। इसलिए जीव लोकाकाश में जहाँ चाहे वहाँ नहीं जा सकता है। मर्यादा में ही गमनागमन कर सकता है। वैसे, अशक्ति, रोग, बंधन आदि कारण गमनागमन में रुकावट पैदा करते हैं।

त्रस नामकर्म का उदय होने पर भी, अशातावेदनीय कर्म का उदय जीव को चलने नहीं देता है। अशातावेदनीय कर्म रोग पैदा करता है, अशक्ति पैदा करता है... जीव की इच्छा होने पर भी वह गमनागमन नहीं कर सकता है। चाहे कोई भी उपद्रव हो... सहायक 'धर्मास्तिकाय' भी उपस्थित हो।

वैसे, जीव निरोगी हो, सशक्त हो, निर्बंधन हो, परंतु इच्छा नहीं हो, तो भी जीव गमनागमन नहीं करेगा। जहाँ एक सामान्य जीवात्मा, उष्णकाल में, धूप में से छाँव में जाता है, शीतकाल में छाँव में से धूप में जाता है, परंतु साधक योगी पुरुष, उष्णकाल में... भयंकर धूप में खड़ा रहता है, आतापना लेता है।

सामान्य मनुष्य किसी डाकू... चोर... या हत्यारे के भय से घबराकर बचने की भावना से दौड़ जाता है। परंतु योगी पुरुष निर्भय होते हैं। चाहे चोर डाकू वगैरह उस पर प्रहार करें, तो भी वे स्थिर खड़े रहते हैं। 'त्रस नाम कर्म का उदय होने पर भी वे वहाँ से अन्यत्र चले नहीं जाते हैं।

ध्यानस्थ दशा में खड़े रहे साधक पुरुष, आग लगने पर भी वहाँ से अन्यत्र नहीं जाते। जल भी जायं... परंतु स्थिर ही रहेंगे। यह हुई इच्छा की बात।

चेतन, तेरा दूसरा प्रश्न हैं -

सिद्धशिला पर तो मुक्त आत्माएँ स्थिर रहती है, परंतु संसार में भी कुछ स्थिर पड़े रहते हैं... जैसे पृथ्वीकाय आदि। ये जीव क्यों स्थिर पड़े रहते हैं? स्वेच्छा से गमना-गमन क्यों नहीं कर सकते?

चेतन, मैंने तुझे प्रारंभ में ही लिखा है कि एकेंद्रिय-जीव स्वेच्छा से

गमनागमन नहीं कर सकते। क्योंकि उन जीवों को 'स्थावरनाम कर्म' का उदय होता है। जीवों को स्थिर रखने का काम यह कर्म करता है।

पृथ्वीकाय के जीव, अपकाय के जीव, तेजकाय के जीव और वनस्पतिकाय के जीव-एकेंद्रिय जीव कहलाते हैं। इन जीवों को मात्र एक ही इंद्रिय-स्पर्शेंद्रिय होती है, इसलिए वे जीव एकेंद्रिय कहलाते हैं। इन जीवों को 'स्थावर-नामकर्म' का उदय होता है, इसलिए वे एक जगह स्थिर रहते हैं।

- धूप में दुःख होने पर भी ये जीव छाँव में नहीं जा सकते,

- शीत में दुःख होने पर भी ये जीव धूप में नहीं जा सकते।

- कोई पृथ्वी को खोदता है, चीरता है... पृथ्वी के जीवों को दुःख होने पर भी, पृथ्वी खिसक नहीं सकती है।

- कोई पानी को अग्नि पर गर्म करता हैं... कोई पानी में नमक ड़ालकर उबालता है, पानी के जीवों को दुःख होने पर भी वे वहाँ ही रहते हैं।

- कोई अग्नि के ऊपर पानी डालता है, कोई अग्नि को पैदा करता है, बुझाता है... तब दुःख होता है, परंतु वे जीव स्थिर ही रहते हैं।

- कोई मनुष्य वृक्ष को काटता है, पौधे को तोड़ता हैं, वनस्पति को काटता है... पशु वनस्पति खाते हैं... वनस्पति के जीवों को बहुत दुःख होता है, परंतु वे जीव, एक जगह से दूसरी जगह नहीं जा सकते हैं।

कारण है यह स्थावर-नामकर्म।

- कैसा जालिम है यह कर्म। मनुष्य कभी जेल तोड़कर भाग सकता है, कभी 'पीलबक्स' तोड़कर बाहर निकल सकता हैं... परंतु ये एकेंद्रिय जीव 'स्थावर नाम कर्म' की जेल नहीं तोड़ सकते। मर जाते हैं, परंतु इस कर्म को नहीं तोड़ सकते हैं।

कर्मों की पराधीनता का, कर्मों की क्रूरता का विचार करना चेतन! जीवसृष्टि पर कर्मों की कैसी क्रूर सत्ता है। दुनिया की दूसरी कोई भी सत्ता इतनी क्रूर नहीं है, जितनी कर्मों की सत्ता क्रूर है।

पूर्ण ज्ञानी तीर्थंकर परमात्मा ने, इन एकेंद्रिय-जीवों की संपूर्ण कर्म-परवशता देखी थी। उनका हृदय करुणा से भरपूर था। उन्होंने संसार

को उपदेश दिया -

- पृथ्वी के जीवों को अपने स्वार्थ के खातिर दुःख नहीं दो,

- पानी के जीवों को, अपने सुख के लिए दुःख मत दो,

- अग्नि के जीवों को, अपनी सुविधा के लिए कष्ट मत दो,

- वायु के जीवों को, अपने सुख के लिए वेदना मत दो,

- वनस्पति के जीवों को अपने सुख के लिए मौत के घाट मत उतारो।

असहाय अबोल... और कर्मों को संपूर्ण पराधीन जीवों के प्रति अपार करुणा बहायी है तीर्थंकरों ने।

त्रस और स्थावर जीवों की रक्षा करें।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५०

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

त्रस और स्थावर जीवों के विषय में पत्र पढ़कर तुझे बहुत आनंद हुआ और स्थावर जीवों के प्रति तेरे हृदय में विशेष अनुकंपा पैदा हुई - जानकर आनंद हुआ।

तेरा नया प्रश्न :

संसार में कुछ जीवों को मनुष्य अपनी आँखों से देख सकता है, किसी उपकरण के माध्यम से देख सकता है, जब कि कुछ जीवों को न आँखों से देख सकते हैं, न किसी यंत्र के माध्यम से देख सकते हैं, ऐसा क्यों?

चेतन, तेरा प्रश्न उचित है। संसार में दोनों प्रकार के जीवों का अस्तित्व है। वैसे आत्मा अपने मूल-शुद्ध स्वरूप में अरूपी ही है। अरूपी आत्मा, न आँखों से देखा जा सकता है, न किसी उपकरण से। परंतु 'कर्म' की वजह से अरूपी आत्मा रूपी बनी हुई है। अनादि कालीन कर्म-जीव संबंध है, इसलिए अनादिकाल से जीव रूपी है।

रूपी जीव भी दो प्रकार के होते हैं -

- आँखों से दिखनेवाले,

- आँखों से नहीं दिखनेवाले।

जिन जीवों का 'बादर नामकर्म' का उदय होता है, वे जीव आँखों से दिखते हैं। यह कर्म जीवों को दृष्टिगम्य बनाता है। हाँ, कभी ऐसा होता है कि एक जीव दृष्टिपथ में नहीं आता है, अनेक जीव इकठ्ठे होते हैं तभी दृष्टिपथ में आते हैं।

यह 'बादर नामकर्म' उन जीवों के शरीरों को ऐसी स्थूलता प्रदान करता है कि जो जीवों की दृष्टि का विषय बन सकता है।

वैसे कुछ जीव रूपी होते हुए भी, यानी जीवों के शरीर होते हुए भी संसारी जीव उनको देख नहीं सकते हैं। आँखों से नहीं या कोई यंत्र से भी नहीं। क्यों कि इन जीवों को 'सूक्ष्म-नामकर्म' का उदय होता है। इस नामकर्म के उदय से जीवों को ऐसे शरीर मिलते हैं कि जो आँखों से नहीं दिखाई देते। इन जीवों को तो मात्र सर्वज्ञ वीतराग ही देख सकते हैं। उन्होंने ही बताया है कि सूक्ष्म पृथ्वीकाय, सूक्ष्म अपकाय, सूक्ष्म तेउकाय, सूक्ष्म वायुकाय और सूक्ष्म वनस्पतिकाय ये जीव चर्मचक्षु के लिए अगोचर होते हैं। उन जीवों को सूक्ष्म नामकर्म का उदय होता है।

चेतन, संसार में जीवों की स्थूलता और सूक्ष्मता कर्मजन्य है - यह बात

तू भलीभाँति समझ गया न? शुद्ध स्वरूप में आत्मा न स्थूल है, न सूक्ष्म। स्थूलता और सूक्ष्मता कर्मसापेक्ष है।

चेतन, तेरा दूसरा प्रश्न निम्न प्रकार है :

'यह देखा जाता है कि मनुष्य जन्मता है तब उस में ६ बातें स्वाभाविक पाई जाती हैं : आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास बोलना और सोचना। ये ६ बातें माता के उदर में ही तैयार होती है? उसके पीछे कौन से कर्म कारण होंगे?'

चेतन, कोई भी जीव, किसी भी गति में जीवन जीता है, उस जीवन में ६ बातें - ६ क्रियाएँ चलती रहती हैं। आहार करना, शरीर निर्माण होना, इंद्रियों की रचना होना, नियमित श्वासोच्छ्वास लेना, बोलना और मन से सोचना। हम अपने स्वयं में ये ६ बातें देखते ही हैं। इन ६ शक्तियों के सहारे ही अपना जीवन है। इन शक्तियों के बिना जीव जी नहीं सकता है। वह मर जाएगा।

हर जन्म में जीव को ये शक्तियाँ मिलती हैं। ये शक्तियाँ प्राप्त होती हैं 'पर्याप्ति-नाम कर्म' की वजह से। जीव यह 'पर्याप्ति नाम कर्म' पूर्वजन्म से बाँधकर लाता है। जीव नई योनि (उत्पत्ति स्थान) में उत्पन्न होता है कि अल्प समय में ये शक्तियाँ प्रगट हो जाती हैं। परंतु सभी जीवों को ६ ही शक्तियाँ प्राप्त हो वैसा नियम नहीं है।

- जो एकेंद्रिय जीव होते हैं उनको १ से ४ पर्याप्ति प्राप्त होती हैं,

- जो बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय जीव होते हैं उनको १ से ५ पर्याप्ति प्राप्त होती हैं,

- जो पंचेंद्रिय होते हैं उनको १ से ६ पर्याप्ति प्राप्त होती हैं।

चेतन, पर्याप्ति वह शक्ति है, जिसके द्वारा जीव आहार, शरीर आदि के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलों को आहार आदि रूप में परिणत करता है। ऐसी शक्ति जीव में पुद्गलों के उपचय से बनती है। अर्थात जिस प्रकार पेट के भीतर वर्तमान पुद्गलों में एक तरह की शक्ति होती है, जिससे कि खाया हुआ आहार भिन्न-भिन्न रूप में बदल जाता है, इसी प्रकार जन्मस्थान-प्राप्त जीव के द्वारा गृहीत पुद्गलों से ऐसी शक्ति बन

जाती है, जो कि आहार आदि पुद्गलों को खल-रस आदि रूप में बदल देती है। वही शक्ति पर्याप्ति है।

पर्याप्तिजनक पुद्गलों में से कुछ तो ऐसे होते हैं जो कि जन्मते ही जीव प्रथम समय में ही ग्रहण करता है।

चेतन, 'पर्याप्ति' के विषय में मैंने पहले तुझे ३८ वे पत्र में लिखा है। पर्याप्तिओं की वहाँ परिभाषायें भी लिखी हैं, इसलिए यहाँ इस पत्र में नहीं लिखता हूँ।

चेतन, एक बात समझ लेना कि सभी जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण करते ही हैं। जो जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण किए बिना मर जाते हैं, वे 'लब्धि-अपर्याप्त' जीव कहलाते हैं। ऐसा जो होता है वह 'अपर्याप्त-नामकर्म' के उदय से होता है।

अब पर्याप्त-अपर्याप्त के कुछ भेद बताता हूँ।

- स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किए बिना ही जो जीव मर जाते हैं वे 'लब्धि-अपर्याप्त' कहलाते हैं।

- चाहे पर्याप्त नाम कर्म का उदय हो या अपर्याप्त-नामकर्म का उदय हो, पर जब तक करणों की (शरीर-इंद्रिय आदि की) समाप्ति न हो तब तक जीव 'करण अपर्याप्त' कहा जाता हैं।

- जिन को पर्याप्त-नामकर्म का उदय हो और इससे जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने के बाद ही मरते हैं, पहले

नहीं, वे 'लब्धिपर्याप्त' कहे जाते हैं।

- आहार-पर्याप्ति बन चुकने के बाद, कम से कम शरीर पर्याप्ति बन जाती है, तभी से जीव 'करण-पर्याप्त' माने जाते हैं। करण-पर्याप्त जीवों के लिए यह नियम नहीं है कि वे स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर के ही मरते हैं।

लब्धि-अपर्याप्त जीव भी कम से कम आहार, शरीर, और इंद्रिय इन तीन पर्याप्ति को पूर्ण किए बिना मरते नहीं। 'लोकप्रकाश' के तीसरे सर्ग-श्लोक ३१ में लिखा गया है - जो जीव लब्धि-अपर्याप्त हैं, वह भी पहली तीन पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही अग्रिम भव की आयु बाँधते हैं। अन्तर्मुहूर्त तक

आयुष्यकर्म बाँधकर, उसका जघन्य अबाधाकाल बिताकर मरकर, गत्यन्तर में जा सकता है।

जब तक अग्रिम भव की आयु बाँधता नहीं और उसके अबाधाकाल को पूरा करता नहीं, तब तक वह मर भी नहीं सकता।

चेतन, इस प्रकार आहार-पर्याप्ति से लेकर मनःपर्याप्ति पर्यंत, पूर्व-पूर्व पर्याप्ति पूर्ण होने पर 'करण-पर्याप्त' और उत्तरोत्तर पर्याप्ति पूर्ण न होने से 'अकरण-अपर्याप्त' कह सकते हैं।

पर्याप्ति के विषय में 'पँचसंग्रह', 'नंदिसूत्र', 'लोकप्रकाश' वगैरह से विशेष - विशद जानकारी पा सकते हैं।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५१

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

'पर्याप्ति' के विषय में पढ़कर तुझे आनंद हुआ और तू उस विषय को समझ पाया, जानकर संतोष हुआ। तत्त्वज्ञान में तेरी अभिरुचि बढ़ती जा रही है, अच्छा है। एक भारतीय दर्शन में कहा गया है -

'तत्त्वज्ञानाद् मुक्तिः।' तत्त्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। तेरा मुक्ति की ओर प्रयाण तो हो ही रहा है। अच्छी बात है।

तेरा नया प्रश्न इस प्रकार है -

'जैन धर्म' में एक ऐसा नियम देखने में आता है कि कुछ वनस्पति का उपयोग किया जाता है, कुछ वनस्पति निषिद्ध है। कुछ फल, कुछ सब्जियाँ खाई जाती हैं, कुछ नहीं - इसका क्या कारण है?'

चेतन, तू यह बात तो जानता है और मानता है कि वनस्पति में जीवत्व है। कुछ वनस्पति में जीव कम होते हैं, कुछ में ज्यादा।

नाम-कर्म की एक प्रकृति है 'प्रत्येक-नामकर्म।' इस नामकर्म का उदय, वनस्पति के जिस जीव को होता है, उस जीव का स्वतंत्र अपना एक शरीर होता है। एक जीव, एक शरीर! यानी एक फल में एक ही जीव होता है!

नामकर्म की दूसरी एक प्रकृति है 'साधारण-नामकर्म।' इस नामकर्म का उदय, वनस्पति के जिस जीव को होता है, वह जीव अपना स्वतंत्र शरीर नहीं बाँध सकता है। अनंत जीवों के बीच एक ही शरीर होता है। साधारण यानी दिखने में एक फल, एक कंद दिखता हो, परंतु उसमें जीव होते हैं अनंत। जैसे आलू, प्याज आदि।

चेतन, सर्वप्रथम मैं प्रत्येक-वनस्पतिकाय के विषय में कुछ बातें लिखता हूँ, बाद में साधारण वनस्पतिकाय के विषय में लिखूँगा।

- 'प्रत्येक नामकर्म' के उदय से वृक्ष के मूल, कंद, स्कंध, शाखा, छाल, फूल, फल... आदि में पृथक्-पृथक् जीव होता है।

'लोकप्रकाश' ग्रंथ में प्रत्येक वनस्पति के १२ प्रकार बताए हैं -

वृक्षा गुच्छा, गुल्मा, लताश्च वल्लयश्च पर्वणाश्चैव।

तृण-वलय-हरितकौषधि-जलरुह-कुहणाश्च विज्ञेया।।९८।। सर्ग. ५

१. वृक्ष, २. गुच्छ, ३. गुल्म, ४. लता, ५. वल्ली, ६. पर्व, ७. तृण, ८. वलय, ९. हरीतकी, १०. औषधि, ११. जलोत्पन्न, १२. कुहण।

पहले वृक्ष की बात बताता हूँ -

- कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं कि जिस के ऊपर जो फल आते हैं, उन फलों में एक ही बीज होता है। यानी हर फल में एक-एक जीव।

- कुछ वृक्षों के फलों में अनेक बीज होते हैं।

- एक बीजवाले फलों के वृक्ष : आम, नीम, जामुन, अशोक, बकुल, नाग, किंशुक वगैरह।

- अनेक बीजवाले फलों के वृक्ष : कदम्ब, अनार, पनस, वगैरह।

- इन वृक्षों के मूल में, स्कंध में, शाखा में, छाल में एवं प्रवाल में असंख्य 'प्रत्येक जीव' रहे हुए होते हैं।

- पुष्प में अनेक जीव होते हैं। हर पत्र में एक-एक जीव होता है, हर बीज में और फल में भी एक-एक जीव होता है।

- संपूर्ण वृक्ष-स्कंध में एक जीव ही व्याप्त होता है। मूल वगैरह १० अंग, उसी वृक्ष-स्कंध के अवयव होते हैं।

दूसरा है गुच्छ : बोरड़ी, तुलसी, गली, इत्यादि 'गुच्छ' कहलाते हैं।

तीसरी है गुल्म की जाति : मल्लिका, कुंद, जुई, मोगरा वगैरह।

चौथा प्रकार है लताओं का : अशोक, चंपक, नाग, वासंती वगैरह।

जिस स्कंध में एक ही बड़ी शाखा उर्ध्व में निकली हो, दूसरी वैसी एक भी शाखा न हो, उसको लता कहते हैं।

पाँचवा प्रकार है वल्ली का : द्राक्ष, कोराफल, वगैरह 'वल्ली' है।

छठ्ठा प्रकार है पर्व : इक्षु, नेतर, बांस वगैरह पर्ववाली वनस्पति है। यानी बीच बीच में सांधे होते हैं।

सातवाँ प्रकार है तृण : दूर्वा, दर्भ, एरंड, वगैरह 'तृण' कहलाते हैं।

आठवाँ प्रकार है वलय : सुपारी, खजूर, नारियल वगैरह का समावेश 'वलय' में होता हैं।

नौवाँ प्रकार है हरितक : सरसों, चौलाई, वगैरह 'हरितक' है।

दसवाँ प्रकार है औषधियाँ : पके हुए सभी धान्य औषधि हैं। उसके २४ प्रकार बताए गए हैं।

ग्यारहवाँ प्रकार है जलरूह : जो पानी में पैदा होता है। जैसे कि कदंब, कमल... वगैरह।

बारहवाँ प्रकार हैं कुहण। यह एक अनजान वनस्पति की जाति है।

- वृक्ष वगैरह में असंख्य जीव होते हैं। गुच्छ वगैरह में प्रायः संख्यात जीव होते हैं।

चेतन, 'प्रत्येक-नामकर्म' के उदय से उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों के विषय में संक्षेप में बताया।

अब मैं 'साधारण-नामकर्म' के उदय से उत्पन्न होनेवाले साधारण-वनस्पतिकाय के जीवों के विषय में कुछ बातें बताता हूँ।

- साधारण-वनस्पतिकाय, के जीवों को अनंतकाय के जीव भी कहते हैं। इन जीवों के शरीर, श्वासोच्छ्वास, और आहार साधारण होता है, सब का एक ही होता है, इसलिए ये जीव साधारण-वनस्पति के जीव कहे जाते हैं।

- मूल, कंद, स्कंध... फल आदि १० वस्तुओं को तोड़ने पर समरूप से टूटते हैं - यह अनंतकाय की निशानी हैं।

जिनके मूल, कंद, पत्र, फल, पुष्प और छाल को तोड़ते हुए चक्रकार समच्छेद होता हो, यह भी अनंतकाय समझना।

- वनस्पति का पहला अंकुर प्रस्फुटित होता है, वह साधारण यानी अनंतकायिक होता है। बाद में वही अंकुर 'प्रत्येक' बन जाता हैं।

- जिस वृक्ष के पत्र क्षीरवाले हो या बिना क्षीर के हो, जिन के रेशे गुप्त हो, दो पत्र के बीच संधि न दिखती हो... ये सारे पत्र अनंतकायिक हैं।

चेतन, अब तुझे मेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया न? जो वनस्पति अनंतकायिक है, जिस में अनंत जीव होते हैं, वैसी वनस्पति खाने का तीर्थंकरों ने निषेध किया है। अनंतकायिक वनस्पति खाने में ज्यादा हिंसा होती है।

खाना ही है तो 'प्रत्येक-वनस्पति' खानी चाहिए। यह खाने में हिंसा का दोष कम लगता है। इसलिए पर्व के दिनों में वनस्पति खाने का जैन धर्म में निषेध किया गया है। संपूर्णतया वनस्पति का त्याग करना चाहिए। वैसे हर

महीने की अष्टमी, चतुर्दशी... पंचमी... एकादशी के दिन वनस्पति का त्याग करना चाहिए।

पर्युषण-महापर्व के दिनों में, चैत्री-आसोज की आयंबिल ओली में... और दूसरे धार्मिक पर्वों के दिनों में भी वनस्पति का त्याग करना चाहिए।

चेतन, कुछ वर्षों से जैन समाज में भी अनंतकाय-जमीनकंद खाने का प्रचार बढ़ा है। 'अनंतकायिक खाना, बड़ी हिंसा है' यह बात भी भूली जा रही है। समाज के आचार-विचारों में बड़ी गिरावट आ रही है। सब को सन्मति मिलो...

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५२

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

'प्रत्येक' और 'साधारण' जीवों के विषय में गत पत्र में पढ़कर तुझे बहुत खुशी हुई - जानकर मुझे संतोष हुआ। इस विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'लोक प्रकाश' का पाँचवा सर्ग पढ़ना चाहिए।

चेतन, तेरा नया प्रश्न निम्न प्रकार है :

'शरीर में कुछ अवयव रबड़ की तरह ढ़ीले होते हैं, जैसे जिह्वा, कुछ अवयव स्तंभ की तरह स्थिर होते हैं, मुड़ते नहीं हैं, तो शरीर के अवयवों की रचना भी क्या कर्मप्रेरित होती है?

चेतन, समग्र शरीर की रचना कर्मजन्य है! जब कर्म नहीं रहेंगे तब शरीर नहीं रहेगा। जब शरीर ही कर्मजन्य है, तब शरीर के अवयव भी कर्मजन्य ही होने चाहिए। शरीर के प्रत्येक अवयव की रचना, भिन्न-भिन्न कर्म प्रकृति से होती है। यह बात 'नाम कर्म' की प्रकृतियों के कार्यों से तुझे मालूम हो गई हैं। शरीर के एक-एक अवयव के नियामक अलग-अलग कर्म है। जिस शारीरिक अवयव का जो कर्म नियामक होगा, वही कर्म उस अवयव को देखता है।

शरीर में जो दाँत होते हैं, जो हड्डियाँ होती हैं, उनका नियमन 'स्थिर-नामकर्म' करता है। दाँत स्थिर रहते हैं, हड्डियाँ स्थिर रहती हैं, झुक नहीं जाती हैं, उनमें लचीलापन नहीं होता है..., यह स्थिर नामकर्म का कार्य होता है। शरीर के अवयवों में स्थिरता और दृढ़ता लाने का काम इस कर्म का होता है। यह कर्म जितना शक्तिशाली होगा, दाँत वगैरह उतने ही दृढ़ रहेंगे। यह कर्म का काल जितना लंबा होगा, दाँत वगैरह दीर्घकाल पर्यंत मजबूत रहेंगे।

- कोई मनुष्य कहता है : 'मेरे दाँत इतने मजबूत हैं कि मैं पूरी सुपारी चबा जाता हूँ। मेरे दांतों से मैं कार या ट्रक को खींचकर ले जा सकता हूँ।' यह स्थिर-नाम कर्म का कार्य है।

- कोई मनुष्य कहता है : मैं सो जाऊँ और मेरे सीने पर से कार निकल जायं, तो भी मेरी हड्डी टूटती नहीं है। मेरे जबड़े पर कोई मुक्केबाज मुष्ठि प्रहार करे, मेरी एक भी हड्डी टूटती नहीं है। यह स्थिर नामकर्म का प्रभाव

है।

- कोई मनुष्य कहता है : आज मुझे ८० साल हुए, परंतु मेरे ३२ दाँत सलामत हैं। एक भी दाँत गिरा नहीं है!' यह चमत्कार इस स्थिर नामकर्म का है।

- कोई मनुष्य कहता है : 'मैं पाँचवीं मंजिल पर से गिरा था, परंतु मेरी एक भी हड्डी टूटी नहीं थी!' यह प्रभाव स्थिर नामकर्म का है।

वैसे, जिस मनुष्य का स्थिर नामकर्म कमजोर होता है -

- उसके दाँत सामान्य आघात से टूट जाते हैं,

- उसकी हड्डी सामान्य प्रहार से टूट जाती है।

कोई मनुष्य कहे कि - 'मेरे सभी दाँत २२ साल की आयु में गिर गए!' यह कमजोर स्थिर नामकर्म की वजह से हुआ।

- कोई मनुष्य कहे : 'रास्ते चलते मुझे ठोकर लगी, मैं जमीन पर गिर पड़ा... और मेरे पाँव की हड्डी टूट गई!' यह कमजोर स्थिर-नामकर्म का काम है!

अब दूसरी बात बताता हूँ।

- शरीर के जो जिह्वा (जीभ) वगैरह अवयव अस्थिर हैं, यानी जैसे मोड़ने चाहें, मोड़ सकते हैं, जो लचीले होते हैं - इन अवयवों का नियामक भी एक कर्म होता है! उसका नाम है अस्थिर-नामकर्म।

- जीभ कड़ी-सख्त क्यों नहीं हो जाती?

- कान कड़े-सख्त क्यों नहीं हो जाते?

- होंठ कड़े सख्त क्यों नहीं हो जाते?

- पलकें स्थिर-सख्त क्यों नहीं हो जाती?

इसका कारण यह अस्थिर-नामकर्म है।

वैसे तो पुद्गल-द्रव्य में स्थिरता और अस्थिरता की-दोनों शक्ति होती हैं। शरीर के कुछ अवयवों में स्थिरता और कुछ अवयवों में अस्थिरता होती है,

यह स्थिर नामकर्म के कारण होती है।

यदि ये दो कर्म नहीं होते तो शरीर या तो पूर्ण रूपेण कड़ा सख्त होता, अथवा सर्वथा लचीला-लोंदे जैसा होता। इन दो कर्मों की वजह से ही शरीर का सौष्ठव होता है। जो अवयव स्थिर होने चाहिए वे स्थिर होते हैं, जो अवयव लचीले चाहिए, वे लचीले होते हैं - तो शरीर सुंदर दिखता है। शरीर-सौष्ठव बनता है।

चेतन, शरीर के अवयवों की स्थिरता-अस्थिरता के ये दो कर्म मूल कारण हैं। निमित्त कारण अनेक हो सकते हैं। निमित्त कारण कुछ पाप कर्म के उदय हो सकते हैं, कोई औषध-प्रयोग हो सकते हैं, कोई मंत्र-प्रयोग भी हो सकते हैं। किसी शत्रु का शस्त्र-प्रहार भी हो सकता है। कुछ दृष्टांतों से यह बात समझाता हूँ।

- किसी शत्रु ने मुँह पर प्रहार कर दिया और दाँत गिरा दिए।

- दाँतों में रोग हुआ, दाँतों में पीब हो गया, खून आने लगा और दाँत हिलने लगे... गिरने लगे,

- 'बोन-टी.बी.' हो गया, हड्डियों में सड़न पैदा हुई और हड्डियाँ गलने लगी,

- किसी ने प्रहार किया और हड्डी टूट गई,

- किसी ने मंत्र-प्रयोग किया और पूरा शरीर अकड़ गया, स्तब्ध हो गया,

- किसी ने औषध-प्रयोग किया और पलकें स्थिर हो गई,

- कोई अशातावेदनीय कर्म का उदय हुआ और रीढ़ की हड्डी टूट गई... मेरुदंड टूट गया,

चेतन, ऐसी अनेक घटनाएँ मनुष्य के शरीर में घटती हैं, उस समय अज्ञानी मनुष्य निमित्त कारणों के प्रति रोष-द्वेष करता है, और घोर आर्तध्यान में, रौद्रध्यान में फँस जाता है। जब कि कर्मसिद्धांत को समझनेवाला प्राज्ञ पुरुष, निमित्त कारणों के प्रति कभी रोष नहीं करेगा। वह मूल कारण समझता है।

'मेरे शरीर के साथ ये सारी घटनाएँ जो घट रही हैं, उनका मूल कारण

कर्म हैं। मुझे कर्मों के प्रति रोष कर, कर्मों का नाश करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।'

वैसे जब शरीर स्वस्थ-सुंदर और सुगठित होता है तब भी ज्ञानी पुरुष सोचता है - 'इस समय मेरा शरीर स्वस्थ है, सुदृढ़ और सौष्ठवयुक्त है, इसका मूल कारण 'कर्म' ही हैं। मुझे कर्मों के ऊपर विश्वास नहीं करना चाहिए। ये कर्म कभी भी धोखा दे सकते हैं। कर्मों ने कई बड़े बड़े लोगों को भी धोखा दिया है। मुझे कर्मों के दिए हुए सुखों पर भरोसा नहीं करना है।'

चेतन, स्थिर नामकर्म और अस्थिर नामकर्म के विषय में चिंतन करना। शेष कुशल,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५३

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

स्थिर-अस्थिर नामकर्म का बोध तेरा स्पष्ट हुआ, जानकर खुशी हुई। तेरा नया प्रश्न निम्न प्रकार है -

'किसी मनुष्य के या पशु के कुछ शारीरिक अवयव अच्छे हैं, कुछ अवयव अच्छे नहीं लगते। कुछ शुभ लगते हैं, कुछ अशुभ लगते हैं, ऐसा क्यों होता है?'

चेतन, सामान्य रूप से मनुष्य के शरीर का नाभि से ऊपर का भाग और आगे का भाग शुभ गिना जाता है। जीभ, कान, नाक, आँख वगैरह इंद्रियाँ और मुख, वक्षस्थल, मस्तक वगैरह ज्यादा उपयोगी एवं आकर्षक दिखते हैं। वैसे पशुओं के भी मुख, सूँढ़, सींग वगैरह अवयव अच्छे लगते हैं। इस प्रकार शरीर के जो अंग-उपांग अच्छे लगते हैं, सुंदर लगते हैं, वह

'शुभ-नामकर्म' की देन है।

एक बात समझना कि सुंदर या अनाकर्षक अवयव उत्पन्न करने का काम शुभ-अशुभ नामकर्मों का नहीं है, परंतु इन दो कर्मों के प्रभाव से शरीर के अवयव शुभ-अशुभ लगते हैं। शरीर के अवयव मिलते हैं 'अंगोपांग नामकर्म' के उदय से। एवं 'निर्माण-नाम कर्म' के प्रभाव से अंगोपांग योग्य स्थान पर नियुक्त होते हैं। परंतु 'यह अवयव अच्छा लगता है, यह अवयव अच्छा नहीं लगता...' ऐसा अनुभव शुभ-अशुभ नाम कर्म के हिसाब से होता है।

नाभि से नीचे के अवयव मलाशय, मूत्राशय, गर्भाशय... एवं पाँच आदि अवयव अशुभ माने गए हैं। 'अशुभ नामकर्म' के प्रभाव से ये अवयव अशुभ माने जाते हैं। यह एक साधारण नियम है। इस में अपवाद भी हो सकते हैं। वैसे पैर अशुभ माने जाते हैं, परंतु पूज्य और महान पुरुषों के चरणों की पूजा की जाती है! वैसे किसी के पैरों का स्पर्श होता है तो अच्छा नहीं लगता हैं,

परंतु साधु संतों का चरणस्पर्श अच्छा लगता है! वैसे, किसी व्यक्ति के पाँव अच्छे दिखते हैं! यह भी 'शुभ-नामकर्म' का प्रभाव है।

शरीर के जो भी अवयव दूसरों को अच्छे लगते हों, वह शुभ नामकर्म का प्रभाव समझना, जो अवयव अच्छे नहीं लगते हों, वह अशुभ-नामकर्म का प्रभाव समझना चाहिए।

चेतन, नाभि के ऊपर के अवयव, सामान्य नियम से शुभ कहे गए हैं। कभी-कभी नाक-कान-आँख... मुख वगैरह अवयव अशुभ लगते हैं! एक दिन जो शुभ लगता है, वही अवयव क्षतिग्रस्त हो जाता है तो वह अशुभ-अप्रिय लगता है।

- एक श्रीमंत घराने की लड़की ने मध्यम कक्षा के घराने के लड़के के साथ शादी की। लड़की को आकर्षण था लड़के के मुख का, उसकी आँखों का, होंठों का, नाक का। परंतु एक दिन लड़के का मुख अचानक जल गया। मुँह कुरूप हो गया, बेडौल हो गया। पत्नी ने कह दिया : 'मुझे अब तेरा मुँह देखना पसंद नहीं... कितना कुरूप हो गया है? अब मैं तेरे साथ नहीं रह सकती।' वह अपने मायके चली गई!

- एक लड़की ने एक लड़के को कहा : 'मैं तेरे साथ शादी रचाऊँगी।' लड़के ने पूछा : 'तुझे मेरी कौन सी बात ज्यादा पसंद है?'

लड़की ने कहा : 'तेरी आँखें!'

शादी हो गई। घर में दो बच्चे भी पैदा हो गए। घर में संपत्ति आ गई। परंतु एक दिन अचानक पुरुष की दोनों आँखें चली गई। वह अंधा हो गया। धीरे धीरे पत्नी का प्रेम कम होता चला। एक दिन बहुत प्यारी लगती थी... अब वे आँखें जरा भी पसंद नहीं! जो शुभ लगता था वह अशुभ लगने लगा!

- एक घर में गाय थी। परिवार में बहुत प्रिय थी। बच्चों को गाय के सींग और गाय का मुँह बहुत प्यारा लगता था। एक दिन जब शाम को गाय जंगल से लौटी... गाय के दोनों सींग के ऊपर के भाग टूट गए थे, और मुँह के ऊपर तीन-चार घाव हो गए थे। गाय को देखकर घर के सभी लोग दुःखी हुए। उपचार करवाए। गाय अच्छी हो गई, परंतु टूटे हुए सींग तो टूटे हुए ही

रह गए। बच्चों का प्रेम नहीं रहा। एक दिन गाय बेच दी गई।

चेतन, शुभ-अशुभ नामकर्म की वजह से शरीर शुभ-अशुभ लगते हैं। वैसे आत्मा को इससे कुछ भी लेना-देना नहीं है। परंतु जब तक आत्मा शरीरधारी है तब तक 'शुभ-अशुभ' का आरोप आत्मा पर जाता है। कर्मों की वजह से आत्मा को बहुत कुछ सहना पड़ता है। इसलिए कर्मों के बंधन तोड़ने का उपदेश तीर्थंकरों ने दिया है।

चेतन, तेरा दूसरा प्रश्न निम्न प्रकार है :

'किसी की आवाज सुनने में अति प्रिय लगती है, किसी की आवाज अप्रिय लगती है, ऐसा क्यों होता है? किसी का स्वर स्वाभाविक ही मधुर एवं कर्णप्रिय होता है, किसी का स्वर कर्कश और अप्रिय होता है।'

चेतन, इसका भी कारण है। कारण के बिना कार्य नहीं होता है। कई स्त्री, पुरुष और पक्षी वगैरह की आवाज मधुर एवं कर्णप्रिय होती है, इसका कारण उन लोगों का 'सुस्वर-नामकर्म' है।

वैसे जिन लोगों की आवाज कर्कश एवं अप्रिय होती है, उस का कारण उन लोगों का 'दुःस्वर-नामकर्म' होता है।

मनुष्य के जीवन में, उसकी आवाज महत्त्वपूर्ण होती है। कई लोग अपनी आवाज के कारण प्रिय बनते हैं, कई लोग अपनी आवाज के कारण अप्रिय बनते हैं।

एक लड़के ने मुझे कहा : 'मैं बोलता हूँ, घर में किसी को पसंद नहीं आता है... सब के मुँह बिगड़ जाते हैं।'

उस लड़के की आवाज ही वैसी कर्कश थी, सुननेवालों को अप्रिय लगे वैसी ही थी। 'दुःस्वर' नामकर्म का उदय था उनका। मैंने ऐसे कुछ विद्वानों को देखे हैं, वे विद्वान हैं परंतु दुःस्वर नामकर्म के उदय से उनकी आवाज कर्कश है, श्रवणमधुर नहीं है, इसलिए लोग उनके प्रवचन नहीं सुनते।

कई ऐसे अच्छे कलाकार हैं, परंतु आवाज कर्कश और श्रवण मधुर नहीं होने से सफलता के शिखर पर नहीं पहुँच पाए हैं। वैसे ही जो लोग रूपवान नहीं है, शरीर का कोई अवयव क्षतिग्रस्त भी है, परंतु सुस्वर-नामकर्म का

उदय होने से, उन की आवाज मधुर एवं श्रवणमधुर है, तो वे लोग बहुत लोकप्रिय बने हैं। उन्नति के शिखर पर पहुँचे हैं।

जीवन-व्यवहार में भी मधुर-मनोरम आवाज का बड़ा प्रभाव होता है। लोकप्रियता में आवाज का बड़ा योगदान होता है। परंतु जो कर्म लेकर जीव आया होता है, उसी के अनुसार उसकी आवाज होती है। 'दुःस्वर नामकर्म' लेकर आया है तो उसकी आवाज दूसरों को अप्रिय लगेगी। खेद नहीं करना। सुस्वर-नामकर्म लेकर आया है तो उसकी आवाज दूसरों को प्रिय लगेगी। अभिमान नहीं करना। यह कर्मों का खेल है! बदलता रहता है।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५४

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

'सुस्वर-दुःस्वर नामकर्म' का विवेचन पढ़कर, मेरी एक पारिवारिक समस्या का समाधान हो गया। परिवार के एक सदस्य के प्रति मेरे मन में जो नफरत थी, दूर हो गई! उसकी कर्कश वाणी की वजह से ही उसके प्रति रोष था। व्यक्ति वैसे गुणवान है, वाणी की कर्कशता में उसका दोष नहीं है, उसके दुःस्वर नामकर्म का दोष है। बात समझ में आ गई।' तेरी बात पढ़कर खुशी हुई।

तेरा नया प्रश्न -

'कोई मनुष्य कोई परोपकार का कार्य करता है, अच्छा कार्य करता है, और लोकप्रिय बनता है, यह बात समझ में आती है, परंतु कोई मनुष्य परोपकार नहीं करता है, कोई सुकृत नहीं करता है, फिर भी लोकप्रिय बन जाता है, यह बात समज में नहीं आती है।

वैसे, परोपकार के अनेक कार्य करनेवाले, अच्छे काम करनेवाले कोई-कोई मनुष्य प्रिय नहीं लगते हैं, अप्रिय लगते हैं, ऐसा क्यों होता है?

चेतन, यह प्रश्न हर घर का है, हर समाज का है और हर देश का है। इस प्रश्न का समाधान नहीं होने से कई अशुभ प्रतिक्रियाएँ मनुष्य के जीवन में पैदा होती हैं। परोपकार करने पर भी, अच्छे काम करने पर भी लोकप्रियता नहीं मिलती है, लोग निंदा करते हैं तब परोपकारी मनुष्य निराश हो जाता है, और परोपकार के काम छोड़ देता है।

वैसे, बिना परोपकार के काम किए, बिना अच्छा काम किए, मनुष्य को लोकप्रियता मिल जाती है, तो वह मनुष्य बुरे काम करने के लिए उत्साहित बनता है। कुछ भी हो, उस का 'सुभग-नामकर्म' ही उसको प्रियता दिलाता है। वह जहाँ भी जाएगा, लोग उसको आदर देंगे।

'वैसे 'दुर्भग-नामकर्म' का उदय होगा तो, परोपकार के काम करने पर

भी, बहुत से सुकृत करने पर भी वह प्रिय नहीं बनेगा, वह अप्रिय बनेगा। ऐसे दुर्भंग-नामकर्म के उदयवाले लोग मिलते हैं और अपना दुःख व्यक्त भी करते हैं।

कोई कहता है : 'हम घर में बहुत काम करते हैं, फिर भी हमारी कद्र नहीं होती है। कोई धन्यवाद के दो शब्द भी नहीं बोलते हैं।'

- कोई कहता है : 'कितने भी संघ-समाज के काम करें, परंतु किसी को भी मूल्य नहीं है। अब तो संघ-समाज के कोई काम करने नहीं है... जहाँ कद्रदानी नहीं हो, वहाँ क्यों काम करना?'

- कोई कहता है : 'मैं निःस्वार्थ भावना से गाँव के काम करता हूँ, फिर भी जिसके भी घर जाता हूँ, कोई प्रेम से बात

नहीं करता है!'

'दुर्भग-नामकर्म' दुर्भाग्य देता है। अच्छे काम करो या बुरे काम करो! दुर्भाग्य के ही बादल छाए रहेंगे।

'सुभग-नामकर्म' सौभाग्य देता है। जिस मनुष्य को इस कर्म का उदय होता है, वह रास्ते पर से गुजरता होगा, तो आसपास के दुकानदार प्रेम से उसको बुलाएँगे। प्रेम से बात करेंगे। उसके घर या दुकान में आने पर लोग खुश होंगे।

- 'दुर्भग-नामकर्म के उदय से मनुष्य, दूसरों को प्रिय नहीं लगता है। वह घर या दुकान में आ जाता है तो उसको आदर नहीं मिलता है, उसके साथ लोग प्रेम से बात नहीं करते। आनेवाला व्यक्ति नाराज हो जाता है। क्योंकि यह कर्मसिद्धांत को वह जानता नहीं है। 'मेरा दुर्भग नामकर्म का उदय होने से मुझे लोगों का आदर नहीं मिल रहा है,' यह बात नहीं समझता है, इसलिए उसके मन का सही समाधान नहीं हो पाता है। वह राग-द्वेष में उलझ जाता है।

जिस व्यक्ति से वह प्रेम और आदर की अपेक्षा रखता होगा, उस व्यक्ति के प्रति उसके मन में द्वेष-तिरस्कार भर जाएगा। 'मैंने इतने अच्छे काम किए, फिर भी उसने मुझे खुश होकर धन्यवाद के दो शब्द भी नहीं कहे। और वह... आया; जिसने जीवन में एक भी अच्छा काम नहीं किया है,

उसको प्रेम से बुलाया... प्रेम से बातें की... मेरे सामने भी नहीं देखा। मैंने उसके कितने काम किए हैं? अब मैं उस का मुँह भी नहीं देखना चाहूँगा।'

चेतन, 'कर्मसिद्धांत' का सही ज्ञान होने से मनुष्य ऐसे फालतू राग-द्वेष से बच जाता है। और यह सोचता है कि 'मैंने ऐसा दुर्भग-नामकर्म क्या करने से बाँधा होगा? अब मैं ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करूँगा कि जिससे नया दुर्भग-नामकर्म बँध जायं।' वास्तव में यही काम करना है... राग-द्वेष पर विजय पाने का। सारे तत्त्वज्ञान का यही प्रयोजन है। सम्यग् ज्ञान से ही राग-द्वेष पर विजय पाया जा सकता है।

जिस मनुष्य का सुभग-नामकर्म का उदय होता है, और वह मनुष्य यदि जागृत होगा तो सोचेगा : 'मैंने किसी के ऊपर उपकार नहीं किया है, किसी का कोई काम नहीं किया है, फिर भी मुझे लोगों का आदर मिलता है, इसका कोई कारण होना चाहिए। मेरा सुभग-नामकर्म उदय में होना चाहिए। परंतु मुझे सावधान रहना चाहिए। जब यह कर्म समाप्त हो जाएगा, तब मुझे आदर देनेवाले लोग मेरा तिरस्कार करेंगे। मेरे साथ प्रेम से बात करने वाले, मुझे देखते ही मुँह फेर लेंगे। तब मुझे आघात लगेगा। पता नहीं कि कब यह कर्म समाप्त हो जायं और दुर्भग-नामकर्म का उदय आ जायं! इसलिए मुझे लोगों के मान-आदर मिलने पर अभिमान नहीं करना चाहिए।'

चेतन, जो कर्मसिद्धांत को समझता होगा, वो ही ऐसा चिंतन कर सकता है। वो भी मात्र विद्वान होगा, वह ऐसा चिंतन नहीं करेगा, जो आत्मलक्षी होगा, जो आत्म जागृतिवाला होगा, वही ऐसा चिंतन कर पाएगा। इसलिए मैं चाहता हूँ कि घर-घर में यह तत्त्वज्ञान फैलना चाहिए। महिलाओं को विशेष कर यह तत्त्वज्ञान पढ़ाना चाहिए। चूँकि उनके मन बड़े 'सेन्सेटीव' होते हैं। किसी के घर गए, उस घरवालों के ऊपर कभी कोई उपकार किया होगा, वहाँ जाने पर अपेक्षित प्रेम-आदर नहीं मिला। घर पर आने के बाद उस घरवालों की कटु आलोचना शुरू कर देंगे। बहुत ही दुःख व्यक्त करेंगे। पति के सामने, बड़े लड़कों के सामने... अपना रोष व्यक्त करेंगे। कई दिनों तक यह 'प्रकरण' चलता रहेगा! कभी-कभी तो तीव्र द्वेष हो जाता है, वैर की गाँठ बंध जाती है।

इस प्रकार के अनर्थों से बचने के लिए 'कर्मसिद्धांत' का अध्ययन बहुत उपकारक बन सकता है। अवश्य बन सकता है। हर अच्छी-बुरी घटना के पीछे कोई कर्म कारणभूत होता ही है। इसकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। इसी हेतु से तुझे यह पत्रमाला लिख रहा हूँ। इन पत्रों को चेतन, बारबार पढ़ना। एक बार पढ़ लेने मात्र से बोध प्राप्त नहीं होगा। पुनः पुनः अध्ययन और वह बोध, प्रसंग उपस्थित होने पर तुझे राग-द्वेष से बचाएगा।

सुभग-दुर्भग नामकर्म के विषय में संक्षेप में तुझे लिखा है। समझने का प्रयत्न करना, शेष कुशल.

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५५

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से यहाँ कुशलता है।

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

'सुभग-नामकर्म' और 'दुर्भग-नामकर्म' के विषय में तुझे पर्याप्त जानकारी मिली, तुझे संतोष हुआ, जानकर खुशी हुई।

तेरा नया प्रश्न -

'मैंने ऐसे कुछ लोगों को देखा है, वे जो कुछ भी सच्चा-झूठा कहेंगे, उनकी बात लोग मान लेते हैं। सदैव उन का वचन मान्य होता है। ऐसा क्यों? और कुछ लोग युक्तिपुरस्सर एवं हितकारी बात कहते हैं, फिर भी लोग उनकी बात नहीं मानते! उसको मान नहीं देते, उसका सत्कार नहीं करते। ऐसा क्यों?'

'चेतन, यह मामूली प्रश्न नहीं है। दुनिया में यह प्रश्न सबको सता रहा है। 'मेरी बात दूसरों को माननी चाहिए' - यह मनः कामना किसकी नहीं होती है?

- माता-पिता यह चाहते हैं कि हमारे बच्चों को हमारी बात माननी चाहिए। नहीं मानते हैं बच्चे, माता-पिता दुःखी होते हैं।

- बच्चे यह मानते हैं कि हमारी बात, हमारे माता-पिता को माननी चाहिए। नहीं मानते हैं माता-पिता, बच्चे दुःखी होते हैं।

- पति चाहता है कि 'मेरी पत्नी को मेरी बात माननी चाहिए, पत्नी नहीं मानती है, पति दुःखी होता है या क्रोधित होता है।

- पत्नी चाहती है कि मेरी बात मेरे पति को माननी चाहिए। पति नहीं मानता है तो पत्नी रूठ जाती है, दुःखी होती है।

- बड़ा भाई चाहता है। कि मेरे छोटे भाइयों को मेरी बात माननी चाहिए, छोटे भाई नहीं मानते हैं, तो बड़ा भाई क्रुद्ध होता है।

- गुरु चाहते हैं कि शिष्यों को मेरी बात माननी चाहिए। शिष्य नहीं मानते हैं तो गुरु निराश होते हैं, दुःखी होते हैं।

- शिष्य चाहते हैं कि कभी हमारी बात भी गुरु को माननी चाहिए, नहीं मानते हैं, गुरु, तो शिष्य के मन खिन्न हो जाते हैं।

यदि ये सभी लोग इतना समझ लें कि 'हमारी बात दूसरे तभी मानेंगे, यदि हमारा आदेय-नामकर्म उदय में होगा। नहीं मानते हैं, उसका कारण 'अनादेय-नामकर्म' है। तो मन का समाधान हो सकता है।

'दूसरों को तर्क से समझाते हैं, बुद्धिपूर्वक समझाते हैं, फिर भी नहीं

समझते हैं, बात नहीं मानते हैं तो गुस्सा आ जाता है। बात मनवाने के लिए कभी बलप्रयोग भी कर लेते हैं। मन अशांत बन जाता है। सामनेवाले का मन भी उद्विग्न हो जाता है।'

ये शब्द हैं एक विद्यालय के गृहपति के। मैंने उनको जब 'आदेय-अनादेय-नामकर्म' का तत्त्वज्ञान समझाया, उनके मन का कुछ समाधान हुआ। हालाँकि उन्होंने अनुशासन की, सामूहिक अनुशासन की बात बताई। मैंने कहा : अनुशास्ता आदेय नामकर्म के उदयवाला चाहिए। जिस का अनादेय-नामकर्म का उदय होता है, उसको अनुशास्ता नहीं बनना चाहिए। अथवा अनुशासन का आग्रह नहीं रखना चाहिए।'

सभी प्रकार के भौतिक सुख होने पर भी यदि परिवार आज्ञांकित नहीं होता है (जिस घर के मुखिया को अनादेय-नामकर्म का उदय होता है उसका परिवार आज्ञांकित नहीं हो सकता है) तो उस घर के बड़े लोग-प्रायः अशांत होते हैं, बेचैन होते हैं। इसमें भी जवान लड़के-लड़कियाँ आज्ञांकित नहीं होते हैं, मनस्वी होते हैं, उन माता-पिता को कितनी मानसिक पीड़ा होती है, मैं जानता हूँ। मेरे पास ऐसे माता-पिता आते हैं और कहते हैं : 'कृपा करके मेरे लड़के को आप समझाइए.. हमारा तो मानता ही नहीं है। कुछ कहते हैं तो हमारे पर गुस्सा करता है।'

एक महानुभाव ने कहा : 'बाजार में मेरी बात बड़े-बड़े व्यापारी भी सुनते हैं, मानते हैं, मुझे मान देते हैं, परंतु घर में न कोई मेरी बात सुनता है, न मानता है... न मेरे साथ औचित्य पूर्ण व्यवहार करता है! मेरे मन में इस बात का बड़ा दुःख है।'

कहीं पर आदेय नामकर्म काम करता है, कहीं पर अनादेय नामकर्म काम करता है! मैंने उनके मन का समाधान करने का प्रयत्न किया। सब जगह, सभी लोग अपनी बात मानें ही, ऐसा आग्रह नहीं रखना चाहिए। वैसी इच्छा भी नहीं रखनी चाहिए। 'मेरी बात घरवालों को... पत्नी-पुत्र-पुत्री-पुत्रवधू... सभी को माननी चाहिए,' ऐसी इच्छा ही नहीं रखनी चाहिए। इच्छा ही दुःख का मूल है। यदि मन में से यह निकल जायं, तो मनुष्य मन की बहुत शांति अनुभव कर सकता है। घरवालों से, कम से कम अपेक्षाएँ रखनी चाहिए।

दूसरे लोगों से भी अपेक्षाएँ ज्यादा नहीं रखनी चाहिए। तो 'अनादेय-नामकर्म' के उदय में भी आप स्वस्थ रह पाएँगे।

चेतन, यदि तेरा 'आदेय-नामकर्म' उदय में है, तेरी बात ज्यादातर लोग मानते हैं, तो तू दूसरों को सरलता से सन्मार्ग पर प्रगति करवा सकता है। सुकृत करने के लिए प्रेरित कर सकता है।

- दूसरों से तू दान दिलवा सकता है,

- दूसरों से तू शील का पालन करवा सकता है,

- दूसरों से तू परोपकार के कार्य करवा सकता है,

- दूसरों से तू आत्मकल्याण की प्रवृत्ति करवा सकता है।

दूसरों से अपने स्वार्थ साधने का काम नहीं करना। दूसरों को स्वार्थवश अपनी माया-जाल में फँसाने का काम नहीं करना! दूसरों को उत्पीड़न नहीं करना।

आदेय-नामकर्म के उदयवाले महापुरुषों ने कितने अच्छे कार्य किए हैं - उसका इतिहास पढ़ना। उन लोगों की रोमांचक कथाएँ पढ़ना।

- उन महापुरुषों ने लाखों लोगों को अहिंसक बनाए,

- उन महानुभावों ने लाखों लोगों को निर्व्यसनी बनाए,

- उन पुण्य-पुरुषों ने लाखों लोगों को सदाचारी बनाए,

- उन महापुरुषों ने लाखों लोगों को धर्मप्रेमी, राष्ट्रप्रेमी बनाए!

चेतन, ऐसा करने से पुनः नया 'आदेय-नामकर्म' बँधता हैं। अच्छे कार्य करने-करवाने के उच्चतम भावों में श्रेष्ठ पुण्य-कर्मबंध होता है, और जब वे पुण्य कर्म उदय में आते हैं, तब और ज्यादा सत्कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है, संयोग प्राप्त होते हैं।

'अनादेय-नामकर्म' का उदय आने पर दीनता नहीं करना। 'क्या करूँ? मेरा कोई मानता नहीं है।' 'नहीं, मेरा कोई कुछ भी नहीं मानेगा, चलेगा! मेरी आत्मा जिनवचनों को मानती रहे, पालती रहे... बस, मुझे ओर कुछ नहीं

चाहिए। मैं अकेला आया हूँ, अकेला ही जानेवाला हूँ। मैं मानता हूँ कि मेरा कोई नहीं है, मैं किसी का नहीं हूँ। यह वास्तविकता है, और मैं वास्तविकता का स्वीकार करता हूँ। मुझे आदेय-नामकर्म से मतलब नहीं है, मुझे तो बस, मोहनीय कर्म का क्षय-क्षयोपशम करना है। मेरा यही लक्ष्य है।' मोहनीय कर्म का क्षय करने की आराधना में ही मन को लीन रखना है। इस प्रकार अपना ध्येय निर्धारित कर जो जीवन जीता है, उसका 'अनादेय-नामकर्म' कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता है। कर्मोदय का समताभाव से वेदन करते चलो! इसलिए जिनवचनों का चिंतन-मनन करते रहो -

शेष कुशल,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५६

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से यहाँ कुशलता है।

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

तेरा नया प्रश्न -

'दुनिया में ऐसा देखने में आता है कि एक मनुष्य छोटा सा भी अच्छा काम करता है तो भी उसका यश फैलता है, उसकी कीर्ति बढ़ती है। जब कि दूसरा मनुष्य ज्यादा अच्छा कार्य करता है, तो भी उसको यश नहीं मिलता है, कीर्ति नहीं फैलती है। ऐसा क्यों?'

चेतन, जीवात्मा का 'यशःकीर्ति-नामकर्म' उदय में आता है, तब उसको यश मिलता है, उसकी कीर्ति फैलती है। यह थोड़ा भी अच्छा काम करेगा तो भी यशः कीर्ति प्राप्त होगी।

वैसे जीवात्मा का 'अयशः कीर्ति-नामकर्म' उदय में आता है, तब उसको अपयश मिलता है। उसकी निंदा होती है। अच्छे काम करने पर भी यश नहीं मिलता है।

दुनिया में कुछ लोग यश के कामी होते हैं। अपयश तो प्रायः कोई भी मनुष्य नहीं चाहता है। समस्या तब पैदा होती है, जब मनुष्य यशकीर्ति चाहता है और उसका यशः कीर्ति-कर्म उदय में नहीं होता है। जिस बात की इच्छा जगती है, और वह इच्छा सफल नहीं होती है, तब मनुष्य अशांत होता है, बेचैन होता है।

एक बात समझना कि यह कर्म ऐसा ही है कि जब चाहे तब बाँधकर तत्काल उदय में ला सके। पूर्वजन्मों में यदि संचित कर्म होगा, तो ही इस जन्म में उदय आ सकता है। यानी यश-कीर्ति प्राप्त होना मनुष्य के संचित कर्म पर आधारित है। यदि संचित कर्म नहीं है आत्मा में, तो लाख उपाय करने पर भी यश-कीर्ति की प्राप्ति नहीं होगी।

इसलिए प्राज्ञ पुरुष कहते हैं कि यश-अपयश की चिंता किए बिना, अपने कर्तव्य-पथ पर चलते रहो। हो सके उतने सुकृत करते रहो। जिस कर्म का उदय होगा, उस कर्म को हर्ष-शोक किए बिना भोगते रहना है। यह उपदेश प्रबुद्ध लोगों के लिए है। सामान्य लोग तो जैसे पानी और भोजन चाहते हैं, घर और वस्त्र चाहते हैं, वैसे यश और कीर्ति चाहते हैं। संसार के और धर्म

के कार्यों में यश चाहते हैं, अच्छे कार्यों के फलस्वरूप वे यश चाहते हैं! जब यश नहीं मिलता है तब वे अच्छे कार्य छोड़ देते हैं। अपयश होता है, तो अपयश करनेवालों के प्रति शत्रुता रखते हैं। वे लोग अशांत रहते हैं। अपने निन्दकों की कटु आलोचना करते रहते हैं।

संसार में यश-अपयश को विशेष महत्त्व दिया जाता है। यश प्राप्त करने और प्राप्त यश को सुरक्षित रखने, मनुष्य सावधान रहता है। जो कष्ट उठाना पड़े, उठाता है। वैसे, अपयश का भय भी लगता है। शिष्ट समाज में मनुष्य ऐसे काम नहीं करता है कि जिससे अपयश फैले।

- अपयश के भय से भी मनुष्य चोरी, दुराचारादि पापों से दूर रहता है, यह भी उपादेय माना है।

- यश पाने की दृष्टि से दान... परोपकार आदि पुण्य कर्म करता है, वह भी अच्छा माना है। यश पाने के लिए, कीर्ति का प्रसार करने के लिए मनुष्य मंदिरों का निर्माण करता है, विद्यालयों की स्थापना करता है, औषधालय खोलता है... धर्मशालाओं का निर्माण करता है। इससे समाज को, नगर को, राष्ट्र को लाभ ही होता है। मनुष्य को यश मिलता है, समाज की आवश्यकता पूरी होती है! यश-कीर्तिमान कर्म के उदयवाले लोग इस दृष्टि से संघ समाज को उपयोगी बनते हैं।

योग और अध्यात्म के मार्ग में यश-अपयश को कोई महत्त्व नहीं रहता है। यश की लालसा से, आध्यात्मिक व्यक्ति को न धर्म करना है, न अध्यात्म की साधना करना है। अपयश का भय तो उसको रखना ही नहीं है। योगी-अध्यात्मी पुरुषों की एक भी वैसी प्रवृत्ति नहीं होती है कि जिससे उनका अपयश हो! फिर भी उनके ऊपर गलत आरोप आ सकता है, बदनामी आ सकती है, उस समय वे सत्त्वशील पुरुष अपयश से डरते नहीं है। अपयशजन्य आपत्ति भी आ सकती है, परंतु आध्यात्मिक लोग, योगी पुरुष निर्भय होते हैं। वे आपत्ति का सहजता से स्वीकार कर लेते हैं।

वैसे तो मुनि को, साधु को श्रमण को 'अपयश-नामकर्म' का उदय ही नहीं होता है। फिर भी कोई निकाचित कर्म का उदय आ भी सकता है... तो समभाव से, बिना राग-द्वेष किए, वे आपत्ति का स्वीकार कर लेते हैं।

यश-अपयश को, कीर्ति-अपकीर्ति को वे मन पर लेते ही नहीं हैं। वे कर्मोदय को एक तमाशा ही समझते हैं। विशेष कुछ भी नहीं।

अपयश का भय समाज में कितना व्यापक है!

- एक निर्दोष व्यक्ति पर चरित्रभ्रष्टता का कलंक आया, उसने अपयश से बचने के लिए आत्महत्या कर ली! इस प्रकार प्राणत्याग के अनेक दुःखद प्रसंग बनते हैं।

- एक प्रामाणिक शिक्षक के ऊपर चोरी का आरोप लगा। शिक्षक अपयश से घबराया, उसने आत्महत्या कर ली।

- एक बड़े व्यापारी को व्यापार में एक करोड़ रुपयों का नुकसान हुआ। बेइज्जती से बचने के लिए उसने जहर पी लिया।

- एक हॉस्टेल में एक लड़का षड़यंत्र का भोग बना, निर्दोष था... अपयश के भय से आत्महत्या कर ली।

- अपयश से बचने के लिए कुछ लोग परदेश चले जाते हैं, कई लोग भूगर्भ में चले जाते हैं। छुप जाते है।

चेतन, दुनिया में यश पाने के लिए और अपयश से बचने के लिए मनुष्य क्या-क्या नहीं करता है? परंतु न यश स्थाई रहता है, न अपयश स्थिर रहता है! दोनों बातें परिवर्तनशील हैं। बड़ा यशस्वी मनुष्य अपयश के गहरे कुएँ में गिर सकता है और अपयश के खड्डे में गिरा हुआ मनुष्य-कीर्ति के शिखर पर पहुँच सकता है।

समझदार मनुष्य इस कर्मसिद्धांत को अच्छी तरह समझ लेता है तो पुण्य कर्म के उदय में वह उन्मत्त नहीं बनेगा और

पाप कर्म के उदय में वह निराश-हताश नहीं बनेगा।

- महासती सीता का अपयश क्या नहीं फैला था?

- श्रेष्ठी सुदर्शन पर क्या कलंक नहीं लगा था?

- महासती अंजना के ऊपर आरोप नहीं लगा था क्या?

परंतु वे सत्त्वशील थे, ज्ञानी थे... उन्होंने आत्महत्या नहीं की थी।

आत्मसाक्षी से जो निर्दोष होती है उनको आत्महत्या नहीं करनी चाहिए। ज्यादा से ज्यादा, स्थानान्तर कर लेना चाहिए। विशिष्ट धर्मआराधना में मन-वचन-काया को जोड़ देने चाहिए। जरा सा भी आर्तध्यान नहीं करना चाहिए।

चेतन, इतना सत्व तो होना ही चाहिए। 'यश-अपयश, कीर्ति-अपकीर्ति-पुद्गल भावों का तमाशा है-' यह बात दिमाग में लिखकर रखो। यश-कीर्ति के उदय में उन्मत्त मत बनना, अपयश-अपकीर्ति के समय भयाकुल नहीं बनना है।

शेष कुशल,

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५७

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से यहाँ कुशलता है।

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

चेतन, मूल आठ कर्म और उसके १५८ प्रकार के कर्मों का विवेचन पूर्ण हो गया। तेरे प्रश्नों के समाधान के रूप में यह विवेचन किया है। इससे जीवन के साथ इन कर्मों का कैसा प्रगाढ़ संबंध है, तू समझ गया होगा। अब जो तेरा नया प्रश्न आया है, उसका समाधान करता हूँ इस पत्र में।

तेरा नया प्रश्न :

'ये आठ कर्म कैसे बँधते हैं? क्या क्या करने से बँधते है - यह समझाने की कृपा करें। वैसे कहीं-कहीं आपने लिखा है इस विषय में, परंतु क्रमशः आठों कर्म जीव क्या-क्या करने से बाँधता है - यह जानने की इच्छा है।'

चेतन, तेरी बात अच्छी है। अब कुछ पत्रों में आठ कर्मों के बंधन के कारण बताऊँगा। कारणों के जानने से मनुष्य, जो करने से पाप कर्म बँधते हैं वैसे काम नहीं करेगा और जो करने से पुण्य कर्म बँधते हैं, वैसे काम करता रहेगा। ज्ञानी पुरुषों ने शास्त्रों में, धर्मग्रंथों में ये सारे कारण बताए हैं। हालाँकि कि मैं ज्यादा विस्तार नहीं करूँगा, ज्यादा संक्षेप भी नहीं करूँगा, परंतु तू समझ सके, उतना विस्तार करूँगा। आज इस पत्र में ज्ञानावरण कर्म और दर्शनावरण कर्म, जीव क्या-क्या करने से बाँधता है, यह बात लिखता हूँ।

- ये दो कर्म बाँधने के मुख्य आठ कारण बताए हैं।

- ज्ञान और ज्ञानी के प्रति, दर्शन और दर्शनी के प्रति, निम्न ८ प्रकार की आशातना करने से ये दो कर्म बँधते हैं।

१. शत्रुता, (अनिष्ट-अयोग्य आचरण)

२. गुरु को नहीं बताना, वास्तविक गुरु को नहीं बताना,

३. घात-उपघात करना। (गुरु आदि को मारना)

४. द्वेष करना (गुरु के प्रति, विद्यालय के प्रति...)

५. अध्ययन में रुकावटें डालना (अंतराय करना)

६. अपमान करना,

७. निंदा करना,

८. अवर्णवाद करना।

१. चेतन, पहली बात है शत्रुता की।

छोटे-बड़े कुछ मनुष्यों को न ज्ञान प्रिय होता है, न ज्ञानी प्रिय होते हैं। ऐसे लोगों को अनिच्छा से पढ़ना पड़ता है या

तत्त्व श्रवण करना पड़ता है, तब उनके मन में शत्रुता का भाव उभरता है। फिर वह ज्ञान के साधनों के

साथ और ज्ञानी पुरुषों के साथ अयोग्य व्यवहार करता है। शत्रुता के भाव से प्रेरित होकर अनुचित आचरण करता है।

२. ज्ञान की रुचि हो, गुरु के पास अध्ययन भी किया हो, गुरु ने अच्छा अध्ययन कराया हो, बाद में शिष्य, गुरु से भी आगे बढ़ गया हो... उसकी कीर्ति फैली हो, उस समय गुरु तो जहाँ थे वहाँ ही अप्रसिद्ध रहे हो। शिष्य के ज्ञान से प्रभावित होकर कोई पूछे 'आप को इतना अच्छा ज्ञान किससे मिला? आपके गुरु कौन हैं?' वहाँ यदि शिष्य अपने सच्चे गुरु का नाम नहीं बताता है... दूसरे कोई प्रसिद्ध आचार्य का नाम बताता है तो वह 'गुरु-निह्नव' कहलाता है, वह ज्ञानावरण कर्म बाँधता है।

३. जिस गुरु के पास पढ़ता है, वे गुरु स्वभाव से उग्र हो, कभी शिष्य को कटु शब्दों में उपालंभ दिया, शिष्य को गुरु के ऊपर गुस्सा आ गया... और गुरु के ऊपर प्रहार कर दे। अथवा गुरु-पत्नी या गुरु पुत्री के साथ शिष्य का प्रेम हो जाय, और गुरु उस प्रेम में बाधक लगे...। तो शिष्य गुरु का घात कर दे। ऐसी कुछ प्राचीन कहानियाँ पढ़ने को मिलती हैं। ऐसा करने से ज्ञानावरण - दर्शनावरण कर्म बँधते हैं।

४. गुरुकुल में रहने पर, गुरु के प्रति द्वेष-प्रद्वेष होने की संभावना रहती है। शिष्य की इच्छा से विपरीत यदि गुरु आज्ञा करते हैं तो शिष्य को द्वेष हो सकता है। शिष्य को गुप्त रूप में या सबके सामने में शिक्षा करते हैं गुरु, तो भी शिष्य को गुरु के प्रति द्वेष होता है। शिष्य को लगे कि गुरु पक्षपात करते हैं, तो भी शिष्य को गुरु के प्रति द्वेष होता है। किसी भी कारण, यदि शिष्य को गुरु के प्रति (अध्यापक, आचार्य आदि) द्वेष होता है, तो ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म बँधता है।

५. घर में लड़का-लड़की पढ़ रहे हों, माता या पिता किसी काम से पढ़ते हुए बच्चों को उठाएँ और उनसे दूसरा काम करवाए, तो पढ़ने में अंतराय होता है,

- पढ़नेवालों को कुछ न कुछ तकलीफ देता रहे, शांति से पढ़ने न दें, उसकी किताबें छीन ले... वगैरह उपद्रव करें,

- झगड़ा कर, पढ़नेवालों को पढ़ने न दे...

इससे जीव ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म बाँधता है।

६. ज्ञानी पुरुषों का अपमान करता रहे।

'तुम को पढ़ाना ही नहीं आता है।'

'तुम्हारे में बुद्धि ही नहीं है...।'

'तुम्हारी आवाज गधे जैसी है...। इस प्रकार ज्ञानी पुरुषों का अपमान करने से ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म बँधता है।

७. ज्ञानी पुरुषों की, जिनमंदिरों की, जिनमूर्ति की, जिनागम की निंदा करता है।

- 'ज्ञानी पुरुषों की बातें फालतू होती है।

- जिनमंदिरों की कोई जरुरत नहीं है...।

- इतनी सारी मूर्तियाँ नहीं चाहिए।

- इस जमाने में धर्मशास्त्रों की बातें निरर्थक हैं।'

इस प्रकार निंदा करने से ज्ञानावरण कर्म बँधता है।

८. ज्ञानी पुरुषों का अवर्णवाद करता है।

जो दोष ज्ञानी पुरुषों में नहीं होते हैं, वैसे दोषों का आरोप करता है। उनको नीचा दिखाने का हमेशा प्रयत्न करता है।

चेतन, ये तो मुख्य-मुख्य हेतु बताए, अब मैं कुछ वर्तमानकालीन आशातना के प्रकार बताता हूँ -

- संडास में पेपर पढ़ना, किताब पढ़ना,

- अखबार के अथवा अक्षरवाले कागज में खाना,

- कागजों को जलाना,

- कागजों को गटर में डालना।

- जूते पहनकर धर्म की किताबें पढ़ना।

- जूठे मुँह, खाते-खाते बोलना,

- मंदिर में जुआ खेलना वगैरह पाप करना,

- किताब के ऊपर या अखबार के ऊपर बैठना,

- केवलज्ञान आदि प्रत्यक्ष ज्ञान का अलाप करना नहीं मानना।

चेतन, इस प्रकार ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म जीव बाँधता है। वैसे दर्शनावरण-कर्म बाँधने के कुछ विशेष हेतु भी हैं। खास कर के पाँच इंद्रियों को (दूसरों को) नुकसान पहुँचाना। इंद्रियों की शक्तियों का दुरुपयोग करना।

इस प्रकार कर्मबंध के हेतुओं को समझकर, उन हेतुओं का त्याग करना। अनजानपन में जो कुछ आशातनाएँ की हों, उसकी आलोचना कर, प्रायश्चित्त कर, शुद्ध होना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५८

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से कुशलता है।

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

इस पत्र में आज मैं वेदनीय-कर्म जीव क्या-क्या करने से बाँधता है - यह बताता हूँ। वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं : शातावेदनीय और अशातावेदनीय। पहले मैं शातावेदनीय कर्म बाँधने के कारण बताता हूँ।

१. गुरु-भक्ति,

२. क्षमा करना,

३. करुणा (जीवदया) करना,

४. व्रतपालन करना. (अणुव्रत, महाव्रतों का पालन करना,)

५. दान-देना,

६. कषायविजय करना,

७. धर्म में दृढ़ रहना,

८. मन-वचन-काया के योगों को प्रशस्त रखना।

शातावेदनीय कर्म बाँधने के ये मुख्य आठ हेतु हैं।

१. पहला कारण है गुरुभक्ति करना। गुरु का अर्थ है माता, पिता, कलाचार्य और धर्मगुरु। माता-पिता की भक्ति करने से, सेवा करने से, उनको शांति-संतोष देने से, उनकी शुभ भावनाएँ पूर्ण करने से, उनके पास परलोक की आराधना करवाने से शातावेदनीय कर्म बँधता है। वैसे जो व्यवहारिक शिक्षा देते हैं, उन अध्यापकों की भी उचित भक्ति-विनय करना चाहिए। उनके साथ भद्र व्यवहार करना चाहिए।

धर्मगुरु की सेवा-भक्ति बहुत ही शुभ भाव से करनी चाहिए। उनको आहार-पानी देना, उनको वस्त्र, पात्र, औषध आदि देना। यदि वे बीमार हो तो उनकी सेवा करना। औषध और अनुपान उचित समय पर देना। यदि वृद्ध अथवा बाल साधु हों, तो उनकी विशेष रूप से भक्ति करनी चाहिए। विशिष्ट ज्ञानी पुरुष हों तो उनकी उचित सेवा करनी चाहिए। तपस्वी मुनि हो, तो उनकी भक्ति भी विवेक पूर्वक करनी चाहिए।

गुरु सेवा यदि उल्लसित भाव से मनुष्य करता है, तो वह शातावेदनीय कर्म बाँधता है।

२. शातावेदनीय कर्म बाँधने का दूसरा कारण है क्षमाधर्म। दूसरों के अपराधों को क्षमा करना। मन से क्षमा करना, वचन से क्षमा करना और काया से क्षमा करना। क्षमा का भाव, शातावेदनीय बँधवाता है। हो सके वहाँ

तक क्रोध को जगने ही नहीं देना।

३. शातावेदनीय बाँधने का तीसरा कारण है जीवदया। दुःखी जीवों के प्रति करुणा उभरनी चाहिए। द्रव्यदया होनी चाहिए और भावदया होनी चाहिए। दया-करुणा, शातावेदनीय बाँधने का श्रेष्ठ कारण है। तीर्थंकर भगवंतों की आत्मा को श्रेष्ठ शाता का उदय होता है, इसका कारण जीवदया ही है। सभी जीवों के सभी दुःख दूर करने की उनकी उत्कृष्ट करुणा जैसे तीर्थंकर-नामकर्म बँधवाती है, वैसे उत्कृष्ट शाता भी बँधवाती हैं।

४. चौथा कारण है व्रतपालन। गृहस्थों के लिए बारह व्रतों का पालन करना होता है, साधुओं के लिए महाव्रतों का पालन करने का होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सदाचार, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत-महाव्रत मुख्य होते हैं। इन व्रत-महाव्रतों का जितना अच्छा पालन मनुष्य करता है, उतना ही शातावेदनीय दृढ़ बँधता है। वैसे छोटे-बड़े व्रत-नियमों का पालन करने से भी शातावेदनीय बँधता है।

५. पाँचवा कारण है दान देना। दान देने से शातावेदनीय बँधता है। गरीबों को अनुकंपा दान दो, सुपात्र को सुपात्र दान दो, उचित दान दो... दान धर्म से दूसरे भी शुभ कर्म बँधते हैं। परंतु शातावेदनीय कर्म विशेषरूप से बँधता है। दान देने में, जीवद्रव्य के प्रति शुभ भाव जगता है, शुभकार्य की अनुमोदना रहती है। इसी वजह से शातावेदनीय बँधता है।

६. छट्ठा कारण है कषायविजय करना। क्रोध पर विजय पाना, अभिमान पर विजय पाना, माया के ऊपर विजय पाना और लोभ के ऊपर विजय पाना। संपूर्ण विजय नहीं, आंशिक विजय भी पाने से शातावेदनीय बँधता हैं।

- क्षमा से क्रोध पर विजय पाना,

- नम्रता से मान पर विजय पाना,

- निर्लोभता से लोभ पर विजय पाना।

ये क्षमा-नम्रता-सरलता और निर्लोभता के भाव, श्रेष्ठ शुभभाव हैं। इन शुभ भावों से शातावेदनीय भी श्रेष्ठ कोटि का बँधता हैं।

७. सातवाँ उपाय हैं धर्म दृढ़ता। स्वीकार किए हुए धर्म का दृढ़ता के

साथ पालन करना। कष्ट अथवा लालच से विचलित नहीं होना।

८. आठवाँ प्रकार है मन-वचन-काया के योगों को शुभ रखना।

- मन जितना पवित्र रहेगा, शातावेदनीय बँधेगा,

- वचन जितने सत्य-पथ्य और हितकारी होंगे, शाता बँधेगी,

- काया की प्रवृत्ति जितनी प्रशस्त होगी, शाता बँधेगी।

शातावेदनीय बाँधने के ये प्रमुख आठ कारण बताए गए हैं। इनके अलावा एक विशिष्ट कारण है - दूसरे जीवों को शाता देने का। हो सके उतना सुख दूसरे जीवों को देते रहो। हो सके उतनी शांति दूसरे जीवों को देते रहो।

चेतन, अब अशातावेदनीय कर्म जिन-जिन कारणों से बँधता है, वे कारण बताता हूँ।

१. गुरुजनों को दुःख देना, अशांति पैदा करना,

२. अपराधी को क्षमा नहीं करना, दंड करना, कष्ट देना,

३. जीवों को मारना, वध करना, पीड़ा देना...

४. व्रत लेना नहीं, लेकर भंग करना, व्रतों को दोष लगाना,

५. दान नहीं देना, अतिथि का तिरस्कार करना,

६. कषायों को बढ़ावा देना। क्रोध, मान, माया और लोभ के ऊपर नियंत्रण नहीं रखना।

७. धर्म में दृढ़ नहीं रहना। भय अथवा लालच से धर्म का त्याग कर देना।

८. मन में अशुभ विचार करना, अप्रिय और अहितकारी वचन बोलना, एवं काया से पाप-कार्य करना।

अशातावेदनीय कर्म बाँधने के ये प्रमुख आठ कारण हैं। विशेष रूप से 'जीवहिंसा' है। एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक जीवों की निर्मम हिंसा करना, अशातावेदनीय बँधवाता है।

इसलिए जैन धर्म में सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की दया करने की आज्ञा की गई है। एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय - जीवों के प्रति दयाभाव से व्यवहार करने का विधान है। पृथ्वी के, पानी के, अग्नि के, वायु के और वनस्पति के जीवों के प्रति दया कर के, उन जीवों की हो सके उतनी हिंसा नहीं करने को कहा गया है।

चेतन, शातावेदनीय और अशाता - वेदनीय कर्मों के उदय से जो विपाक आते हैं, वे विपाक तू जानता है। अब ये कर्म बँधने के हेतु भी बताए गए। 'अशातावेदनीय' कर्म नहीं बँधे, इसलिए प्रतिपल जागृत रहना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ५९

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से कुशलता है।

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

जानते-अनजानते जीवात्मा कैसे-कैसे कर्म बाँधता है, तू जैसे-जैसे समझता जाएगा, तेरी आत्मचिंता बढ़नेवाली है। वैसे ही, तेरी आत्मा जागृत-सावधान बनेगी। पाप-कर्मों का बंध नहीं हो, कम हो, इसलिए जागृत रहना ही है।

चेतन, 'मोहनीय कर्म' जिन कारणों से बँधता है, आज उन कारणों को लिखता हूँ। तू जानता है कि मोहनीय कर्म के मुख्य दो प्रकार हैं - १. दर्शन मोहनीय, और २. चारित्र मोहनीय। सर्व प्रथम मैं दर्शन-मोहनीय कर्म के बंध

हेतुओं को लिखता हूँ।

दर्शनमोहनीय कर्म के बंध हेतु मुख्य रूप से आठ हैं -

१. उन्मार्ग का उपदेश देना,

२. शुद्ध मोक्षमार्ग का नाश करना,

३. देवद्रव्य का नाश करना, भक्षण करना,

४. तीर्थंकर के प्रति शत्रुता,

५. साधु के प्रति शत्रुता,

६. जिन-प्रतिमा के प्रति शत्रुता,

७. जिनमंदिरों के प्रति शत्रुता,

८. चतुर्विध संघ के प्रति शत्रुता,

१. पहला कारण है उन्मार्ग का उपदेश देना। जैसे कि - 'व्रत-नियमों का पालन करने की आवश्यकता नहीं है, पूजा-पाठ मत करो, साधु बनने की जरुरत नहीं है, इंद्रियदमन मत करो, तप-त्याग मत करो... बस, आत्मा का ध्यान करते रहो... तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी।' यह उन्मार्ग का उपदेश है। ऐसा उपदेश देने से दर्शन-मोहनीय कर्म बँधता है।

२. दूसरा कारण है शुद्ध मोक्षमार्ग का नाश करना। जैसे कि 'सम्यग् दर्शन' ज्ञान, चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है। क्रमशः गुणस्थानक पर चढ़ने की आवश्यकता नहीं है...। जहाँ हो वहाँ से सीधे मुक्ति में जा सकते हो।...' यह है मोक्षमार्ग का अप्रलाप। यह करने से दर्शन मोहनीय बँधता हैं।

३. तीसरा कारण है देवद्रव्य का नाश करना, भक्षण करना। 'देवद्रव्य' यानी देवाधिदेव परमात्मा के मंदिर के लिए, प्रभुप्रतिमा के लिए लोगों ने जो द्रव्यधन समर्पित किया हो, उस द्रव्य का उपयोग मंदिर और मूर्ति के लिए ही करना चाहिए। परंतु जो मनुष्य उस देवद्रव्य को स्वयं हड़प कर जाता है अथवा दूसरे कार्यों में खर्च कर देता है, वह मनुष्य दर्शन - मोहनीय बाँधता है। अथवा देवद्रव्य उत्पन्न होने के जो उपाय हैं, उन उपायों का जो विरोध करते हैं, वे भी दर्शनमोहनीय बाँधते हैं।

४. चौथा हेतु है तीर्थंकर के प्रति अरुचि, अभाव, शत्रुता। जो मानता है और बोलता है कि 'तीर्थंकर वास्तव में होते ही नहीं, यह तो मात्र कल्पना है। मैं तीर्थंकर को मानता ही नहीं हूँ। उनके उपदेश भी किसी काम के नहीं। ऐसा माननेवाला, बोलनेवाला मनुष्य दर्शन मोहनीय बाँधता है।

५. पाँचवा हेतु है साधु के प्रति अरुचि, अभाव, शत्रुता। 'साधु नहीं बनना चाहिए, साधु तो समाज के ऊपर भार रूप होते हैं, आज के युग में कोई सच्चा साधु नहीं है... वगैरह। ऐसा मानने से, बोलने से दर्शन मोहनीय कर्म बाँधता है।

६. छठा हेतु है जिन-प्रतिमा के प्रति अरुचि, अभाव, शत्रुता। 'जिन-प्रतिमा तो पत्थर है, जड़ है, उसको पूजने से कुछ नहीं मिलता है। मूर्तिपूजा तो अज्ञानता है... शास्त्रों में जिनपूजा है ही नहीं...। वगैरह मानने से एवं बोलने से दर्शन मोहनीय कर्म बँधता है।

७. सातवाँ हेतु है जिन-मंदिर के प्रति अरुचि, अभाव, शत्रुता। मंदिर नहीं बनाने चाहिए, मंदिर में धर्म नहीं है, मंदिर में जाने से मिथ्यात्व लगता है। ऐसा मानने से, बोलने से दर्शन मोहनीय कर्म बँधता है।

८. चतुर्विध संघ के प्रति शत्रुता, अरुचि, अभाव-यह आठवाँ हेतु है। साधु की निंदा, साध्वी की निंदा, श्रावकों की निंदा और श्राविकाओं की निंदा करने से, अवर्णवाद करने से, तिरस्कार करने से दर्शन-मोहनीय कर्म बँधता है।

चेतन, ये आठ हेतु मुख्य हैं दर्शनमोहनीय कर्म बाँधने के! वैसे मिथ्यात्वी लोगों का संपर्क, मिथ्याधर्मों की प्रशंसा, मिथ्याधर्मों के प्रति आकर्षण... ये भी दर्शन मोहनीय कर्म बाँधने के हेतु हैं।

- अब चारित्रमोहनीय कर्म-बंध के हेतु बताता हूँ।

- चारित्र मोहनीय कर्म दो प्रकार का होता है। कषाय मोहनीय और नो-कषाय मोहनीय।

- कषायों के उदय से कषाय-मोहनीय कर्म बँधता है,

- नो-कषायों के उदय से नो-कषाय-मोहनीय कर्म बँधता है।

इसलिए कषाय और नो-कषायों को उदय में ही नहीं लाने चाहिए। कषायों का भीतर में दमन-शमन कर देना चाहिए।

१. क्रोध के उदय से क्रोध-मोहनीय कर्म बँधता है,

२. मान के उदय से मान-मोहनीय कर्म बँधता है,

३. माया के उदय से माया-मोहनीय कर्म बँधता है,

४. लोभ के उदय से लोभ-मोहनीय कर्म बँधता है।

यह तो कषायों के उदय से कषायों के बंध की बात हुई। अब नो-कषायों की बात बता देता हूँ।

१. हास्य के उदय से हास्य मोहनीय कर्म बँधता है,

२. रति के उदय से रति-मोहनीय कर्म बँधता है,

३. अरति के उदय से अरति-मोहनीय कर्म बँधता है,

४. भय के उदय से भय-मोहनीय कर्म बँधता है,

५. शोक के उदय से शोक-मोहनीय कर्म बँधता है,

६. जुगुप्सा के उदय से जुगुप्सा-मोहनीय कर्म बँधता है।

७. पुरुष वेद के उदय से पुरुषवेद बँधता है,

८. स्त्री वेद के उदय से स्त्री वेद बँधता है,

९. नपुंसक वेद के उदय से नपुंसक-वेद बँधता है।

मनुष्य का मन कषाय परवश और नो-कषाय-परवश होता है तो वह कषाय-नोकषाय मोहनीय कर्म बाँधता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं 'कषायविजय' करो। नो-कषायों से भी दूर रहो। वैसे नो-कषायों से मन को बचाना मुश्किल काम है। चूँकि, हसने में और खुश-नाखुश होने में मनुष्य कुछ समझता ही नहीं है। वैसे भय में, शोक करने में और जुगुप्सा करने में 'मैं पाप कर रहा हूँ,' यह बात मनुष्य को याद नहीं आती है। इन नो-कषायों को मनुष्य स्वाभाविक समझता है।

वैसे तीन वेदों की बात भी वैसी ही है। वेदोदय को निसर्गदत्त शक्ति मानते हैं। इसलिए 'सेक्सी वृत्ति' का दमन या शमन करने का विचार भी

नहीं आता है मनुष्य को।

चेतन, मोहनीय कर्म सभी कर्मों में ज्यादा खतरनाक है। हो सके वहाँ तक, इस कर्म को बाँधने से बचना। मोहनीय कर्म ही जीव का सबसे बड़ा शत्रु है। शत्रु को घर में आने का निमंत्रण नहीं देना चाहिए। मोहनीय कर्म के बंध हेतुओं का सेवन करना, यही निमंत्रण है। इस जीवन में कर्म बाँधने के नहीं हैं, कर्मों का नाश करने का है।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ६०

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से कुशलता है।

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ। जैसे-जैसे तू कर्मबंध के हेतु जानता जाएगा वैसे-वैसे तेरे हृदय में घोर चिंता पैदा होती

जाएगी। 'मैंने कैसे-कैसे पाप कर्म बाँधे हैं? कैसे-कैसे पाप कर्म बाँध रहा हूँ? मेरा क्या होगा? मरकर क्या मैं दुर्गति में जाऊँगा? कौन सी दुर्गति में जाऊँगा? कितने भयानक कष्ट मुझे दुर्गति में सहने पड़ेंगे?'

चेतन, आज तुझे 'आयुष्य कर्म' के बंधहेतु लिखता हूँ। आयुष्य कर्म चारगति में से किसी एक गति का बाँधता है। मृत्यु के बाद जीवात्मा उस गति में चला जाता है। संसार की चार गति हैं : नरकगति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देवगति।

क्या-क्या करने से मनुष्य नरकगति का आयुष्यकर्म बाँध लेता है, सर्वप्रथम वह बताता हूँ।

'बंधइ निरयाउ महारंभ-परिग्गह-रओ रुद्धो।'

- जो मनुष्य बड़े आरंभ-समारंभ में आसक्त होता है,

- जो मनुष्य बड़े परिग्रह में आसक्त होता है,

- जो तीव्र कषायी, जीवघातक, रौद्रध्यानी होता है,

वह नरकगति का आयुष्यकर्म बाँधता है।

- चेतन, जिस व्यवसाय में, जिस कार्य में असंख्य जीवों की (एकेंद्रिय से पंचेंद्रिय तक) हिंसा होती है, उसको आरंभ-समारंभ कहते हैं। जो मनुष्य ऐसे आरंभ-समारंभों में आसक्त रहते हैं, जिन-जिन को आरंभ-समारंभ करने में कोई दुःख नहीं होता है, 'ये काम करने जैसे नहीं हैं,' ऐसा विचार भी नहीं आता है, ऐसे मनुष्य नरकगति का आयुष्य बाँध लेते हैं।

- जो मनुष्य परिग्रह में तीव्र आसक्ति रखता है, यानी स्थावर, जंगम संपत्ति के ऊपर ममत्व बाँधता है, वह मनुष्य नरक गति का आयुष्य बाँध लेता है। मनुष्य के पास अपार संपत्ति हो और उस पर ममत्व करें, वो तो है ही, परंतु जिसके पास संपत्ति नहीं है, परंतु संपत्ति की कल्पना कर, जो आसक्ति करता है, वह भी नरकगति का आयुष्यकर्म बाँध लेता है। वैसे तो मूर्च्छा, ममत्व, आसक्ति ही परिग्रह है। मनुष्य के पास संपत्ति-वैभव हो या मत हो, आसक्ति है तो वह परिग्रही है।

- नरकगति का आयुष्यकर्म बाँधने का तीसरा कारण है तीव्र कषाय। विशेष कर क्रोध कषाय। तीव्र कषायवाला मनुष्य दूसरों की हत्या करने के विचार करते हैं, हत्या कर भी देते हैं। जीवघातक मनुष्य मरकर नरक में ही प्रायः जाता है। तीव्र कषाय की अवस्था में यदि मनुष्य आयुष्य कर्म बाँधता है तो नरकगति का ही बाँधता है। तीव्र कषाय में 'रौद्रध्यान' होता है, रौद्रध्यान नरक में ले जाता है।

अब तिर्यंचगति का आयुष्य कर्म जीव क्या-क्या करने से बाँधता है, वह बताता हूँ।

- जो मनुष्य गूढ़ हृदयवाला होता है,

- जो मनुष्य शठ होता है, यानी ठग होता है,

- जो मनुष्य मूर्ख स्वभाव का होता है,

- जिसके हृदय में तीन शल्य होते हैं,

ऐसे जीव तिर्यंच गति का (पशु-पक्षी इत्यादि की गति) आयुष्य कर्म बाँधते हैं।

गूढ़ हृदय का अर्थ होता है अति कपट से भरा हुआ हृदय। जो बोलता कुछ है, सोचता कुछ है और करता कुछ और ही है। ऐसे लोग मूर्ख स्वभाव के होते हैं, यानी माया-कपट करने के करुण परिणाम का विचार नहीं कर सकते। उनमें विवेक नहीं होता है। वे अपने हृदय में मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यात्वशल्य को भर के जीते हैं। बाहर से दिखावा सरलता का, साधुता का और समकित-दृष्टि का करते हैं। यही तो माया है। ऐसे मायावी लोग तिर्यंचगति का आयुष्य कर्म बाँधकर, पशु-पक्षी की योनि में चले जाते हैं।

चेतन, अब मनुष्यगति का आयुष्य कर्म क्या-क्या करने से बँधता, है, यह बताता हूँ।

- जिस जीवात्मा के कषाय मंद होते हैं,

- जिस को दान देने की अभिरुचि होती है,

- जो क्षमाशील होता है,

- जो विनम्र होता है,

- जो निर्दंभ होता है, सरल होता है,

- जो निर्लोभी होता है।

यानी कि जो मध्यम कोटि के गुणों से शोभायमान होता है, वह मनुष्य-आयुष्य बाँधता है।

चेतन, मनुष्य मरकर मनुष्य बन सकता है। यदि वह ऊपर बताए हुए गुणों को आत्मसात् कर लेता है तो। मृत्यु के बाद यदि पुनः मनुष्य जीवन पाना है तो गुण-वैभव प्राप्त करना होगा। श्रेष्ठ कोटि के गुण नहीं होंगे तो चलेगा, मध्यम कोटि के गुण होने ही चाहिए।

गुणप्राप्ति को लक्ष्य बनाना होगा। गुणरक्षा के लिए सजाग रहना होगा, और गुणवृद्धि का पुरुषार्थ करना होगा।

अब 'देवगति' का आयुष्य-कर्म कैसे बँधता है, यह जान ले :

१. अविरति सम्यग्दृष्टि मनुष्य,

२. देशविरति श्रावक-श्राविका,

३. सर्वविरति साधु-साध्वी,

४. तपस्वी,

५. अज्ञानी तपस्वी,

६. अकामनिर्जरा करनेवाला

देवगति का आयुष्य कर्म बाँधता है।

चेतन, सम्यग् दर्शन-गुण आत्मा में हो, और जीवात्मा आयुष्यकर्म बाँधेगा, तो 'देवगति' का ही बाँधेगा। 'सम्यग् दर्शन' आत्मा का एक प्रमुख गुण है। सम्यग् दर्शन के साथ संलग्न अनेक विशिष्ट गुण होते ही हैं।

आगे, जो समकितदृष्टि जीव, व्रत-नियमों को धारण करते हैं, वे देश-विरति श्रावक-श्राविका कहलाते हैं। व्रतपालन की अवस्था में यदि वे आयुष्यकर्म बाँधते हैं, तो देवगति का ही बाँधते हैं। व्रतपालन के अध्यवसाय पवित्र होते हैं।

आध्यात्मिक विकास करते हुए जब मनुष्य साधु-साध्वी बन जाते हैं; महाव्रतों का वे पालन करते हैं। उनकी आत्मविशुद्धि ज्यादा होती है। वे देवगति का ही आयुष्य कर्म बाँधते हैं।

चाहे विरति रहित सम्यग्दृष्टि मनुष्य हो, श्रावक-श्राविका हो, या साधु-साध्वी हो, यदि वे तप करते हैं, उग्र तप करते हैं, तो 'सकाम निर्जरा' करते हुए वे देवगति का आयुष्यकर्म बाँध लेते हैं।

चेतन, जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, मिथ्यादृष्टि है, परंतु घोर तपस्वी है, वह 'अकाम निर्जरा' करता है और देवगति का आयुष्य कर्म बाँध लेता है। अन्य-अन्य धर्मों का पालन करनेवाले यदि तपश्चर्या करते हैं, वे देवलोक में जा सकते हैं।

- जो मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं वे ज्ञान-ध्यान से या तपश्चर्या से जो कर्मनिर्जरा करते हैं, उसको अकामनिर्जरा कहते हैं।

- जो सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं, वे ज्ञान-ध्यान और तपश्चर्या आदि धर्मआराधना से जो कर्मनिर्जरा करते हैं, उसको सकामनिर्जरा कहते हैं।

देवगति का आयुष्यकर्म, सकामनिर्जरा करनेवाले और-अकामनिर्जरा करनेवाले दोनों बाँध सकते हैं।

चेतन, तू जानता है कि आयुष्यकर्म जीवन में एकबार ही जीव बाँधता है। यानी बँध जाता है। हमको मालूम नहीं पड़ता है कि आयुष्य कर्म कब बँधता है। आगामी जन्म का आयुष्य-कर्म, वर्तमान जीवन में बँध जाता है। विशेष संभावना आयुष्य कर्म बँधने की, पर्व-महापर्व के दिनों में रहती है। इसलिए पर्व-दिनों में विशेष धर्म आराधना करना चाहिए। शुभ विचारों एवं शुभ-पवित्र क्रियाएँ करनी चाहिए। ताकि अच्छी गति का आयुष्यकर्म बँध सके।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ६१

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से कुशलता है।

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

चार गतियों के आयुष्य कर्म बाँधने के हेतु जानकर तू गहन-गंभीर विचारों में डूब गया..., मालूम हुआ। स्वाभाविक है, अज्ञानदशा में जीव कैसे-कैसे पाप कर्म बाँध लेता है - यह अब ज्ञात होता है। ज्ञानदृष्टि खुलने पर भूतकाल की भूलों का ज्ञान होता है। अब उन भूलों को दोहराना नहीं है।

चेतन आज तुझे 'गोत्र कर्म' के बंध हेतु लिखता हूँ।

गोत्र कर्म के दो प्रकार हैं : उच्च गोत्र और नीच गोत्र। पहले मैं उच्च गोत्र कर्म के बंध हेतु बताता हूँ।

- जो मनुष्य गुणग्राही, गुणानुरागी होता है,

- जो मनुष्य मदरहित, निराभिमानी होता है,

- जो मनुष्य अध्ययन-अध्यापन में लीन रहता है,

- जो मनुष्य जिनेश्वरदेवों का भक्त होता है,

- जो मनुष्य सिद्ध भगवंतों का ध्याता होता है,

- जो मनुष्य साधर्मिकों की सेवा में रत होता है,

वह 'उच्चगोत्र-कर्म' बाँधता है। वैसे तो ये बंधहेतु समझ में आ जाय वैसे हैं, फिर भी कुछ विशेष स्पष्टीकरण करता हूँ।

१. पहली बात बहुत ही महत्वपूर्ण है। गुणदर्शन करते रहो और गुणानुरागी बनते रहो! यदि आनेवाले जन्मों में उच्च-खानदान कुल में जन्म पाना है, अच्छे सदाचारी, संस्कारी और धार्मिक माता-पिता के कुल में जन्म पाना है, तो गुणदृष्टा बनना होगा।

दूसरे जीवों के गुण ही देखने के हैं। दोष नहीं देखने हैं। जीवों में अनंत दोष होने पर भी दोष नहीं देखने हैं। एक बात याद रखना कि प्रत्येक जीवात्मा में गुण होते ही हैं। गुणरहित कोई भी जीवात्मा नहीं होता है, कोई भी मनुष्य नहीं होता है। गुण देखने के लिए गुणदृष्टि चाहिए। दोषदृष्टि होगी तो दोष ही दिखाई देंगे।

गुणदर्शन कर, गुणों के अनुरागी बनना। 'उच्चगोत्र' बाँधने का यह असाधारण हेतु है। 'उच्चगोत्र' कर्म, मोक्षमार्ग की आराधना करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

२. जो मनुष्य मदरहित होता है, अभिमानरहित होता है, वह उच्चगोत्र बाँधता है। किसी भी बात का अभिमान-अहंकार नहीं करना है। उच्च जाति का, उच्च कुल का, महान बल का, श्रेष्ठ प्राप्ति का, प्रगल्भ बुद्धि का, श्रेष्ठ ज्ञान का, अद्‌भुत लोकप्रियता का... कभी अभिमान नहीं करना है। सदैव नम्र बने रहना है। उच्च जाति वगैरह होने पर भी अहंकार नहीं करना है। सावधान रहना है।

३. 'उच्चगोत्र' बाँधने का तीसरा हेतु है : धर्म-अध्यात्म के ग्रंथों का अध्ययन करते रहना, अध्यापन कराते रहना। बहुत अच्छा हेतु है यह। धर्म, योग, अध्यात्म वगैरह आत्म विशुद्धि करने के शास्त्रों का अध्ययन करते रहो... अध्यापन (पढ़ाना) कराते रहो... उच्चगोत्र-कर्म बँधता रहेगा। सारे

धर्मग्रंथ चार विभागों में विभाजित हैं : द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग और कथानुयोग। जो अनुयोग तुझे प्रिय हो, उस अनुयोग के ग्रंथ पढ़ते रहो। दूसरों को जो अनुयोग पढ़ा सकते हो, पढ़ाते रहो।

४. चौथा हेतु है : जिनेश्वर भगवंतो की निष्काम भक्ति। परमात्म भक्ति से उच्च गोत्र बँधता है। भक्ति का लक्ष्य 'कर्मबंध' नहीं रखना है। भक्ति का लक्ष्य तो 'कर्मक्षय' करने का है। परंतु भक्ति करने से उच्चगोत्र स्वाभाविकता से बँध जाएगा।

५. पाँचवा हेतु है : सिद्ध भगवंतों का भक्तिपूर्ण हृदय से ध्यान करना। चेतन, शायद तू सिद्ध भगवंत का ध्यान नहीं करता है। अब करना। वैसे तो सिद्धों का ध्यान करने से ज्यादा कर्मक्षय ही होता है। परंतु साथ साथ 'उच्चगोत्र' भी बँधता है।

६. छट्‌ठा हेतु है : साधर्मिकों की सेवा में निरत रहना। उच्चगोत्र बाँधने का यह हेतु भी महत्वपूर्ण है। दुःखी साधर्मिकों का उद्धार करना है और सभी साधर्मिकों की भक्ति करना है। परंतु भक्ति प्रीतिपूर्वक होनी चाहिए। साधर्मिकों के साथ कभी भी तिरस्कारपूर्ण व्यवहार नहीं करना। उनकी उपेक्षा कभी नहीं करना।

उच्चगोत्र के ये ६ बंध हेतु हैं।

नीच गोत्र कर्म बाँधने के इनसे विपरीत ६ हेतु हैं :

१. दूसरे जीवों के दोष देखने से, दोषानुवाद करने से नीचगोत्र बँधता है। चेतन, यह बात तो कितनी व्यापक हो गई है। दूसरे जीवों के ज्यादातर दोष ही देखे जाते हैं और चर्चा भी दोषों की ही चलती रहती है। परिणाम आता है नीचगोत्र बँधने में, इसलिए दूसरों के दोष देखना ही नहीं। दोष देखने हों तो स्वयं के ही देखना। अपने में क्या कम दोष हैं? अनंत दोष हैं। जब तक अपने दोष दूर नहीं होते हैं, तब तक दूसरों के दोष देखने का, बोलने का अपना अधिकार नहीं है।

२. अभिमान करना, अहंकार करना, नीच गोत्र बाँधने का महत्वपूर्ण हेतु है। जिस बात का तुझे अभिमान होगा, वह बात जिसमें नहीं होगी, उसके

प्रति तू तिरस्कार करेगा। अहंकार और तिरस्कार - ऐसा नीचगोत्र बंधवाता है कि जो करोड़ भव तक भोगना पड़ता है। ऐसे हीन और दरिद्र परिवारों में जन्म मिलता है, जहाँ लोगों को घोर तिरस्कार-अपमान सहन करने पड़ते हैं।

३. नीच गोत्र कर्म बाँधने का तीसरा हेतु है पढ़ना नहीं, पढ़ाना नहीं। पढ़ने के साधन होने पर भी, पढ़ानेवाले सद्‌गुरु का संयोग मिलने पर भी, जो प्रमाद से, आलस्य से पढ़ता नहीं है, वह नीच गोत्र बाँधता है। वैसे, दूसरों को पढ़ाने का ज्ञान और बुद्धि होने पर भी, प्रमाद से जो नहीं पढ़ाता है, वह भी नीचगोत्र कर्म बाँधता है।

४. जो मनुष्य परमात्मतत्त्व के प्रति प्रेम धारण नहीं करता है, उनकी भक्ति नहीं करता है, उनके अस्तित्व का जो विरोध करता है, वह भी नीचगोत्र बाँधता है।

५. जो मनुष्य सिद्धभगवंतों के प्रति प्रेम नहीं रखता है, उन का ध्यान नहीं करता है, स्मरण नहीं करता है और सिद्धों के अस्तित्व को नहीं मानता है, वह नीच गोत्र बाँधता है।

६. जो मनुष्य साधर्मिक (जैन धर्म को माननेवाले) भाई-बहनों के साथ दुर्व्यवहार करता है, उनका अपमान करता है, उनके प्रति दुर्भाव धारण करता है, शक्ति होने पर भी उनका उद्धार नहीं करता है, ऐसे लोग नीचगोत्र बाँधते हैं।

चेतन, वैसे अपने लोग साधर्मिक-वात्सल्य करते हैं, हजारों रुपये खर्च कर देते हैं, परंतु उनके पास यदि कोई दुःखी साधर्मिक सहायता प्राप्त करने जाता है, तो उसको बाहर निकाल देते हैं... उस पर गुस्सा करते हैं। इससे भी नीचगोत्र बँध जाता है।

चेतन, साधर्मिकों की सहायता करना, उनकी दरिद्रता मिटाना और उनको सन्मार्ग पर लाना, बहुत बड़ा धर्म हैं। आज तो लाखों साधर्मिक दुर्व्यसनों में फँसे हैं, लाखों साधर्मिक दरिद्रता के शिकार बने हैं... उनका उद्धार करना अति आवश्यक है। शक्ति होने पर भी उद्धार नहीं करते हो तो नीचगोत्र कर्म बाँधते हो।

नीचगोत्र कर्म का कैसा करुण विपाक होता है, तू जानता है न? 'समरादित्य-महाकथा' का पहला भव पढ़ना। उसकी अवांतर कथा पढ़ना। तेरा हृदय काँप उठेगा।

उच्च गोत्र ओर नीच गोत्र के बंधहेतुओं को पढ़ना, उस पर चिंतन करना। जीवन में जो कुछ परिवर्तन करना उचित लगे, अवश्य करना। नीचगोत्र के कारणों का सर्वथा त्याग करना।

शेष कुशल।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ६२

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से कुशलता है।

तेरा पत्र मिला, आनंद हुआ।

विचार शुद्धि और व्यवहार शुद्धि के बिना, पाप कर्म के बँध से बचना असंभव है। पाप-विचारों से, पाप-वचनों से और पाप-प्रवृत्ति से कर्मबंध होता रहता है। आज मैं तुझे 'अंतराय-कर्म' किस-किस कारण से बँधता है, यह बताऊँगा।

अंतराय-कर्म के पाँच प्रकार हैं : १. दानांतराय, २. लाभांतराय, ३. भोगांतराय, ४. उपभोगांतराय, ५. वीर्यांतराय। सर्वप्रथम मैं अंतरायकर्म बँधने के सर्व-साधारण हेतु बताता हूँ, बाद में पाँचों प्रकार के अलग-अलग बंध हेतु बताऊँगा।

चेतन, निम्न कारणों से अंतरायकर्म बँधता है :

१. जिनपूजा में अंतराय करने से, रोक लगना से,

२. जिनागमों को अमान्य करने से, निंदा करने से,

३. जिनाज्ञा से विपरीत उपदेश देने से,

४. दीन-दुःखी के प्रति कठोर, निर्दय व्यवहार करने से,

५. तपस्वी, मुनि, अणगार को नमस्कार नहीं करने से,

६. जीवहिंसा करने से,

७. दीन-दुःखी के ऊपर रोष करने से,

८. धर्ममार्ग का अपलाभ करने से,

९. पारमार्थिक कार्यों का उपहास करने से,

१०. ज्ञानप्राप्ति में दूसरों को रुकावट करने से,

११. दूसरों को दान देते हुए रोकने से,

१२. असत्य बोलकर धन की चोरी करने से,

१३. नौकर-चाकर, पशु, बच्चे, दीन-अनाथ को भोजन दिए बिना स्वयं भोजन करने से,

१४. धर्मकार्य करने में 'अशक्ति' बताने से,

१५. परस्त्री के साथ व्यभिचार करने से,

१६. व्यापार का गलत हिसाब-किताब रखने से,

१७. किसी की अमानत हड़पने से,

१८. बच्चों को फँसाकर, परदेश में बेचने से,

१९. बाल-कुमारिकाओं को फँसाकर, उनका शील भंग करने से,

२०. पिंजरे में तोता वगैरह पक्षी को या पशुओं को बंद करने से।

अंतराय-कर्म बाँधने के ये प्रमुख २० कारण हैं। इसके अलावा दूसरे भी कारण हैं। इन कारणों से अंतराय कर्म बँधता है। जब ये कर्म उदय में आते हैं तब मनुष्य दान नहीं दे पाता है, धन-धान्य की प्राप्ति नहीं होती है, भोगसुख भोग नहीं सकता है, घर, स्त्री, अलंकार वगैरह का उपभोग नहीं कर सकता है। उसके मन में उल्लास-उमंगे नहीं उठती हैं, शरीर अशक्त होता है।

चेतन, अब सर्वप्रथम 'दानांतराय' कर्म के बंध हेतु बताता हूँ :

- दान देने की सामग्री होते हुए भी जो साधु-साध्वी को सुपात्र दान नहीं देता है, दीन-अनाथ को अनुकंपादान नहीं देता है, अतिथि का उचित सत्कार नहीं करता है, वह दानांतराय कर्म बाँधता है। जो मनुष्य स्वयं तो दान नहीं देता हैं, परंतु जो दान देते हैं उनको भी रोकता है, दानधर्म की निंदा करता है, वह दानांतराय कर्म बाँधता है। जब इस कर्म का उदय आता है, मनुष्य के मन में दान देने की भावना ही पैदा नहीं होती है। वह कंजूस-कृपण बनता है।

- दूसरा हैं 'लाभांतराय' कर्म, उसके बंधहेतु बताता हूँ :

धन कमाने के लिए कितने भी व्यापार करे, प्रयत्न करे, परंतु थोड़ा सा भी धन प्राप्त नहीं करता है, सारे प्रयत्न विफल हो जाते हैं - यह है लाभांतराय कर्म का फल। ऐसा कर्म जीव निम्न कारणों से बाँधता है -

१. किसी की धनप्राप्ति में रुकावट डालने से,

२. किसी को भोजन में विक्षेप करने से,

३. दूसरों को, सुख के साधन प्राप्त होने में अंतराय करने से।

तीसरे 'भोगांतराय' कर्म के बंध हेतु निम्न प्रकार हैं :

- दूसरों के भोगसुखों में ईर्ष्यावश, द्वेषवश अंतराय करने से यह कर्म बँधता है। भोगसुख पास में होते हुए भी मनुष्य इस कर्म के उदय से भोग नहीं सकता है।

चौथा 'उपभोगांतराय' कर्म, उपभोग्य पदार्थों के उपभोग में दूसरे जीवों को अंतराय करने से बँधता है। किसी पति-पत्नी को आपस में लड़वाना, पति से पत्नी का विरह करवाना, भक्त से भगवान का विरह करवाना, बच्चे का माता से विरह करवाना, गुरु-शिष्य के बीच का संबंध तुड़वाना... इत्यादि कारणों से यह कर्म बँधता है। जब यह कर्म उदय में आता है तब उपभोग की सामग्री (स्त्री, अलंकार, मकान, वस्त्र आदि) होते हुए भी मनुष्य उसका उपभोग नहीं कर सकता है।

पाँचवा वीर्यांतराय-कर्म है। वीर्य यानी शक्ति। मन की शक्ति और तन की शक्ति। यह कर्म दोनों शक्ति पर रोक लगा देता है। यह कर्म निम्न कारणों से बँधता है।

- शक्ति होने पर भी जो परोपकार के कार्य नहीं करता है,

- शक्ति होने पर भी जो धर्म क्रियाओं में प्रमाद करता है,

- शक्ति होने पर भी जो साधुपुरुषों की सेवा नहीं करता है।

- दूसरों के मन में अशांति-क्लेश पैदा करता है।

- दूसरों की धर्मआराधना में विक्षेप करता है।

- तन-मन की शक्ति का दुरुपयोग करता है।

इससे वीर्यांतराय कर्म बँधता है।

चेतन, शरीर की अशक्ति, मन का 'डिप्रेशन', मन में सदैव उदासी, वगैरह प्रतिभाव इस वीर्यांतराय कर्म के हैं।

वैसे तो प्रारंभ में ही अंतराय-कर्म के २० बंध हेतु जो बताए हैं, उनसे बचने का प्रयत्न करना। अन्यथा, इस जीवन में जो जो अंतराय कर्म जीवन की राह में अड़चने पैदा करता है, भविष्य में - भवांतर में भी अंतराय कर्म इससे भी ज्यादा विघ्न पैदा करता रहेगा।

अब, इसी पत्र में 'नाम-कर्म' के बंध हेतु बता देता हूँ। इस के साथ आठों कर्मों के बंध हेतु लिखने का काम पूर्ण होगा।

चेतन, नाम-कर्म दो प्रकार का हैं : शुभ नाम कर्म और अशुभ नाम कर्म।

'सरलो अ-गारविल्लो सह-नामं, अन्नहा असुहं।'

- जो मनुष्य सरल होता है,

- जो मनुष्य रस-गारव से रहित होता है,

- जो मनुष्य ऋद्धि-गारव से रहित होता है,

- जो मनुष्य शाता-गारव से रहित होता है,

वह शुभ-नाम कर्म बाँधता है। नाम-कर्म की जिस प्रकृति का परिणाम जीव के लिए सुखदायी होता है, वह शुभ-नामकर्म कहलाता है, जैसे तीर्थंकर नाम कर्म, देवगति, मनुष्य गति, पहला संघयण, सुस्वर, सुभग, यशकीर्ति वगैरह।

१. पहली बात हैं सरलता की। जो माया-कपट रहित होता है, वह शुभ

नाम कर्म बाँधता हैं।

२. दूसरी बात है रसगारव की। रसास्वाद की प्रबल वृत्ति, 'रसगारव' कहलाता है। जिसमें रसास्वाद की तीव्र वृत्ति नहीं होती है, वह शुभ नाम कर्म बाँधता है।

३. तीसरी बात है ऋद्धिगारव की। जिसको ठाट-बाट पसंद होता है, शान से रहने का मोह होता है, उसको ऋद्धिगारव कहते हैं। जो इस गारव से रहित होता है, वह शुभ नाम कर्म बाँधता है।

४. चौथी बात है शाता-गारव की। शाता-गारव यानी सुखशीलता। आरामप्रियता। जो मनुष्य शातागारव-रहित होता है, वह शुभ-नाम कर्म बाँधता है।

चेतन, जो सरल नहीं होता है, जो तीनों गारव से ग्रसित होता है, वह अशुभ-नाम कर्म बाँधता है। सावधान रहना! गारवों में रक्त नहीं बनना।

- भद्रगुप्तसूरि

पत्र : ६३

प्रिय चेतन,

धर्मलाभ,

परमात्मा की परम कृपा से कुशलता है।

जिस विषय पर यह पत्र माला लिख रहा हूँ, शायद यह पत्र अंतिम है।

चेतन, इन पत्रों से तू स्पष्ट रूप से समझ गया है कि संसार में सभी जीव कर्मबद्ध हैं, कर्माधीन हैं, कर्मों से आवृत हैं। मूल रूप से आत्मा स्वतंत्र होते हुए भी अनादिकाल से कर्मबद्ध है। आत्मा अनंत ज्ञानी है, अनंतदर्शनी है, अनंत शक्ति का धारक है, वीतराग है, अनामी और अरूपी है... फिर आज वैसा नहीं है। कारण कर्म हैं!

'सभी दोष, सभी भूलें, सभी पाप, सभी दुर्गुण कर्मजन्य हैं,' यह बात नहीं भूलना है। जब-जब तेरी दृष्टि में दूसरों के दोष दिखाई दें, भूलें दिखाई दें, पाप करता दिखाई दें, तब उन जीवों के प्रति नाराज नहीं होना, क्रुद्ध नहीं होना। उनका तिरस्कार नहीं करना। उस समय सोचना कि : 'जीव तो निर्दोष है, निष्पाप है, सभी दोष कर्मजन्य हैं। मैं जानता हूँ कि

जीवात्मा कर्म प्रेरित है। वह जो कुछ भी करता है, बोलता है और सोचता है... सब कुछ कर्म प्रेरित है। वैसे पापकर्मों के उदय को रोकना, सरल काम नहीं है। सभी जीवों के लिए संभव नहीं है।'

इस प्रकार विचार करने से जीवात्माओं के प्रति रोष पैदा नहीं होगा। जीव मैत्री का भाव खंडित नहीं होगा और इस जीवन में इतनी उपलब्धि हो जायं तो बहुत है। यह ज्ञान दृष्टि है, यह तत्त्वदृष्टि है। राग-द्वेष के ऊपर विजय पाने के लिए यह ज्ञानदृष्टि चाहिए। तू तपश्चर्या करता है, करना, तू धर्म क्रियाएँ करता है, करना, तू व्रत-नियम करता है, करना। परंतु तुझे तत्त्वदृष्टि तो पाना ही होगा। बिना तत्त्व दृष्टि, कुछ भी करने से राग-द्वेष के ऊपर विजय नहीं पा सकेगा। जीवमैत्री अखंड नहीं रख पाएगा। इसलिए मैंने तुझे इस पत्र माला में 'कर्म' तत्त्व समझाने का प्रयत्न किया है। हर प्रश्न का समाधान तू कर्म-तत्त्व ज्ञान के माध्यम से कर सकेगा। परंतु इसलिए तुझे इस पत्रमाला का पुनः पुनः अध्ययन करना होगा। चिंतन-मनन करना होगा।

चेतन, कर्म-सिद्धांत के विषय में तेरे लिए पर्याप्त मैंने लिखा है। वैसे तो इस विषय में जीवन पर्यंत लिखूं, तो भी पूरा नहीं हो सकता। आज इस पत्र में एक नए विषय का निर्देश मात्र करता हूँ। 'विशुद्ध आत्म स्वरूप' का अध्ययन तुझे करना है। हम विशुद्ध आत्मा हैं। 'ज्ञानसार' में कहा गया है - 'शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं' 'मैं शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ।'

परंतु अनादिकाल से आत्मा और कर्म जुड़े हुए हैं। आत्मा और कर्मों का अनादि - संबंध है। आत्मा और कर्म दो तत्त्वों में से कर्म तत्त्व को तू अच्छी तरह जान गया। अब आत्म-तत्त्व को जानने का प्रयत्न करना।

कर्मों से मुक्त आत्मा 'शुद्ध आत्मा' कही जाती है, और कर्मों से मुक्ति पाई जा सकती है। कर्मबद्ध आत्मा को मुक्त करने का पुरुषार्थ भी आत्मा को ही करना है। स्वयं को मुक्त करने का पुरुषार्थ भी स्वयं को ही करना है। दूसरा कोई हमें मुक्त नहीं कर सकेगा। 'मुझे शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा बनना है,' यह दृढ़ संकल्प करना होगा। दृढ़ संकल्प, दृढ़ निर्णय के बिना कार्य सिद्धि नहीं हो पाती है।

चेतन, पूर्णानन्दमय, पूर्ण सुखमय... पूर्ण ज्ञानामय आत्मा की कल्पना तो करना। विशुद्ध आत्मा की यह कल्पना इतनी मधुर... इतनी सुंदर... और इतनी लुभावनी होती है कि मन वह विशुद्ध स्वरूप पाने के लिए तड़पने लगता है! बार-बार ऐसी तड़पन पैदा होती रहेगी तो एक दिन तू विशुद्ध स्वरूप पा लेगा। विशुद्ध स्वरुप पाने के मार्ग पर चल देगा!

चेतन, वह मार्ग है तपश्चर्या का। कर्मों का बंधन तोड़ने के लिए और विशुद्ध आत्म स्वरुप पाने का श्रेष्ठ मार्ग है तपश्चर्या का। परंतु तपश्चर्या को विशाल अर्थ में समझना। तीर्थंकरों ने बारह प्रकार की तपश्चर्या बताई है। 'तपसा निर्जरा च।' यह सूत्र दिया है। तप से कर्मों की निर्जरा होती है, यानी कर्मों का नाश होता है।

अब बारह प्रकार के तप के नाम लिखता हूँ।

१. अनशन (उपवास इत्यादि)

२. उणोदरी (क्षुधा से कम खाना)

३. वृत्ति संक्षेप (कम संख्या में वस्तु खाना)

४. रस त्याग (रसास्वाद का त्याग करना)

५. कायक्लेश (स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहना)

६. संलीनता (शरीर को स्थिर रखना)

७. प्रायश्चित्त (अपने पापों का ज्ञानी गुरु से प्रायश्चित्त लेना)

८. विनय (पूज्यों का, वडिलों का विनय करना)

९. वैयावच्च (सेवा करना, विशेष कर ग्लान सेवा करना)

१०. स्वाध्याय (ज्ञानाभ्यास करना)

११. कायोत्सर्ग (विविध प्रकार के काउसग्ग करना)

१२. ध्यान (समवसरण-ध्यान वगैरह ध्यान करना)

चेतन, इस बारह प्रकार की तपश्चर्या करते रहना। इससे आठों कर्मों के ऊपर कुठाराघात होता रहेगा। 'कर्मक्षय' होता रहेगा। प्रायश्चित्त से ध्यान तक के अभ्यंतर तप में विशेष रूप से प्रवृत्ति करना है। बाह्य तप अभ्यंतर तप में पूरक होता है, परंतु बाह्य तप करके ही संतुष्ट नहीं होना है।

कर्मक्षय कर, आत्मा का विशुद्ध स्वरुप प्राप्त कर, परमानंद की अनुभूति करने समर्थ बनें, यही शुभ कामना करता हुआ,

यह पत्र माला पूर्ण करता हूँ। कुशल रहें।

- भद्रगुप्तसूरि